

समयसारभूतोऽयम्

“बद्धो वा मुक्तो वा चिद्रूपो नयविचारविधिरेषः ।

सर्वनयपक्षरहितो भवति हि साक्षात् समयसारः ॥”

—(पद्मनन्दि पंचविंशति, 11/53)

चैतन्य आत्मा कर्मनिबद्ध है तथा मुक्त भी है, यह नय—विचार की विधि है, विचारातीत अवस्था में आत्मा सर्वनयपक्षातीत है अर्थात् विचार और शब्द की परिधि और पकड़ से परे है। यही निर्मल आत्मा समयसार है।

समयसार मोक्षस्वरूप है, यह स्वपरिणति है, अतः इसका मनन—चिन्तन अथवा वाणी से प्रकाशन संभव नहीं है। जब तक पर—परिणति है, विकल्प हैं, तब तक समयसार की उपलब्धि के प्रयत्न होते हैं। पर—परिणति बन्धन है, स्व—परिणति मोक्ष है, यही सारभूत है। व्यवहार नय के जितने भी पक्ष हैं, वे बन्ध के कारण हैं, साधक अवस्था के अंग हैं। साधक की अवस्था में देवपूजा, गुरुपास्ति, शास्त्र—स्वाध्याय इत्यादि साधनों का आश्रय ग्रहण किया जाता है। ये अवलम्बन मोक्षोपलब्धि के कारण होते हुए भी साधनावस्था में बन्धक हैं। यद्यपि ‘समयसार’ की गाथाएँ संसार—बन्ध का निवर्तन करानेवाली हैं, तथापि जब तक शब्दरूप वाक्यवृत्ति का अभ्यास—अनुशीलन मन पर छाया हुआ है तब तक परिणाम में मोक्षतत्त्व का उपस्थापन करनेवाली गाथाएँ भी बन्धन से व्यावर्तित नहीं करतीं। उनकी वाचना जब निर्ग्रन्थ—स्थिति (अंतरंग—बहिरंग दोनों) में सुस्थित होकर उन गाथाओं के सार को आत्मसात कर लेती है, पचाकर स्वरूप—संविधि का अंग बना लेती है, तभी उनका बन्ध—पराङ्मुख अर्थ आत्मकल्याणकारी हो पाता है, अतः मोक्ष—अबन्ध के लिए भी साधनावस्था में देवगुरुशास्त्रादि का कथंचित् बन्ध अपेक्षित है; यथा—

“मृत्पिण्डदण्डचक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते ।

उदकाहरणे तस्य तदपेक्षा न विद्यते ॥”

—(श्लोकवार्तिक, 2/48)

अर्थात् घड़े की रचना के समय मिट्टी, दण्ड, चक्र, कुम्हार इत्यादि की अपेक्षा होती है; किन्तु जब उसमें जल लाया जाता है, तब ये सभी अनावश्यक हो जाते हैं, इनकी कोई अपेक्षा नहीं रहती। ग्रन्थ और ग्रन्थ की प्रतिपत्ति में भी यही दृष्टान्त समझना चाहिए। शब्दों के अर्थ जब आत्मा में गहरे पैठ जाते हैं, तब ग्रन्थों की अपेक्षा नहीं

रह जाती।

इन सारे प्रसंगों का सार केवल इतना ही है कि दोनों नय परस्पर सापेक्ष हैं। मोक्षमार्ग में दोनों का अवलम्बन है। पदार्थ अथवा आत्मबोध में दोनों ही यथारीति ग्राह्य हैं। केवल निश्चय अथवा केवल व्यवहार का दुराग्रह कोरा मिथ्यात्व है; जब स्वात्मोपलब्धि हो जाती है, तब दोनों स्वतः छूट जाते हैं—वहाँ पूर्ण ज्ञानज्योति ही अपने विशाल वैभव में दमकती है। आत्मोपलब्धि से पूर्व की प्रयत्नावस्था में आचार्यों ने व्यवहार को निश्चय में सहायक बतलाया है और तदनन्तर निश्चय रूप विकल्प को भी हेय बतलाकर शुद्ध स्वरूपाचरण को ही प्रमुखता दी है, अर्थात्—

“मुख्योपचारविवृतिं व्यवहारोपायतो यतः संतः।

ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्धं तत्त्वमिति व्यवहतिः पूज्याः॥”

—(पद्मनन्दि पंचविंशति, 11/11)

मुख्य शुद्धनय में उपचार कथन करनेवाला व्यवहारनय है, सज्जन पुरुष व्यवहार की सहायता से शुद्ध का अवलम्बन करते हैं, इस दृष्टि से व्यवहार भी ग्राह्य है, अधिक उपकारक और पूज्य है। अणुव्रत—महाव्रत के विवेचन में जैसे अणुव्रत को महाव्रत में सहायक माना है अथवा एक—देश और सर्वदेश का भेद किया है; वैसे ही इन नयों में भी अपेक्षा और परस्पर सहकार दृष्टि है। साधक—अवस्था में दोनों ही कार्यकारी हैं।

“निरतः कात्स्न्यं निवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयं।

या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति॥”

—(पुरुषार्थसिद्धयुपाय 41)

साक्षात् समयसार की उपलब्धि में अमृतचन्द्राचार्य प्रभृति मान्य आचार्यों ने दर्शन—ज्ञान—चारित्र की त्रयी को प्रधानता दी है और ज्ञान—चारित्र द्वारा उसे प्राप्त करने पर पूरा—पूरा बल दिया है। ज्ञान और चारित्र प्रयत्नसाध्य हैं; किन्तु दर्शन के संबंध में स्थिति भिन्न है। यही कारण है कि श्रावक की प्राथमिक अवस्था को अणुव्रतों में और अणुव्रतों को महाव्रतों में हेतु माना गया है तथा ज्ञान और चारित्र को प्रयत्नाधीन कहा गया है। यद्यपि ज्ञान और चारित्र भी क्षयोपशमादि पर ही अवलम्बित हैं तथापि प्रमाद और अकर्मण्यता के उत्तरोत्तर परिहरण की दृष्टि से इनमें प्रवृत्त होना उचित है। सम्यग्दर्शन के प्रसंग में यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसकी उपलब्धि में प्रयत्न का सीधा हाथ नहीं है, वह कालादि लब्धियों पर आश्रित है। दूसरी ओर चारित्र में यत्नवान होने पर परिणामों में निर्मलता आएगी, अनुज्ज्वलता से रक्षा होगी, फलतः परिणाम—निर्मलता में कारणभूत ज्ञान—चारित्र का तिरस्कार कर, उसकी अवहेलना

करते हुए केवल सम्यग्दर्शन का दुराग्रह करना या उसकी रट लगाये रहना कार्यकारी नहीं है। तर्कसंगत और समीचीन तो यह है कि जैसे-जैसे चारित्र आगे बढ़ेगा वैसे-वैसे परिणामों में सरलता आयेगी और आत्मानुभूति अर्थात् तत्त्वश्रद्धान का सुयोग स्वयमेव उपस्थित होगा। यह स्वाभाविक और तर्कसम्मत प्रक्रिया है। आचार्य सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के प्रसंग में लिखते हैं—

“दैवात् कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे।

भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते।।”

—(पंचाध्यायी, 2/378)

योग्यतावश कालादि लब्धियों के प्राप्त होने पर जब संसार—समुद्र निकट रह जाता है और भव्य भाव का परिपाक होता है तब यह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। यहाँ ‘प्रत्यासन्ने भवार्णवे’ संसार—समुद्र के निकट रहने का अर्थ, अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल की शेषता और योग्यतावश का भाव चारित्राधारित परिणाम—निर्मलता; द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का सुयोग आदि समझना चाहिए। इस तरह यह स्पष्ट निष्कर्ष है कि सम्यग्दर्शन प्रयत्नसाध्य नहीं है।

उक्त प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि हुंडावसर्पिणीरूप पंचम काल में तो सम्यग्दर्शन की, सम्यग्दृष्टियों की उपलब्धि और भी कष्टसाध्य, दुर्लभ है, इसीलिए जीव अधिकांशतः मिथ्यात्वगृहीत देखे जाते हैं। उक्त समीक्षण का फलितार्थ यों लेना चाहिए कि कषायों को मन्द करने में कारणभूत ज्ञान—चारित्र की शरण ग्रहण करनी चाहिए और उन्हीं की अनवरत उपासना करनी चाहिए। इसका स्वाभाविक फल यह होगा कि कषयादि मन्द होने और मिथ्यात्व के उपशमादि के कारण सम्यग्दर्शन स्वयमेव प्रकट होने लगेगा, हो जाएगा। वस्तुतः सम्यग्दर्शन की निष्पन्नता के लिए प्रयत्न नहीं किया जाता, वह तो ज्ञान—चारित्र की उपासना का अनन्य और अपरिहार्य फल है। यदि कालादिलब्धि है तो उसकी उत्पत्ति अवश्यम्भावी है। उसे कौन टाल सकता है? अवसर्पिणी कालदोष के प्रसंग में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

“उवसम्मइ सम्मतं, मिच्छतबलेण पेल्लदे तस्स।

परिवट्ठंति कसाया, अवसप्पिणिकालदोसेण।।”

—(रयणसार, 155)

वास्तव में ‘समयसार’ का समीक्षण—विवेचन एक दुस्तर कार्य है, तथापि सन्त—समागम और उपयुक्त मार्गदर्शन से कुछ भी असंभव नहीं है। वीर निर्वाण संवत् 2471 (1945 ई0) का पुण्य—प्रसंग है। उन दिनों संयोग से प्रातःस्मरणीय परमपूज्य आचार्य श्री

महावीरकीर्तिजी रत्नत्रयपुरी (शेडवाल) में वर्षावास में विराज रहे थे। भाद्रपद शुक्ल 14 को प्रातः 10 बजे आचार्यश्री ने मुझे 'समयसार' जैसे 'ज्ञान—महोदधि' में अवगाहन का अपूर्व अवसर दिया, उसमें प्रवेश कराया। यथार्थ में यह उन्हीं की अनुकम्पा का सुफल है कि मैंने उस महान् ज्ञानोदधि के किञ्चित् तलस्पर्श से यहाँ कतिपय मणियाँ आकलित की हैं, ऐसा करते हुए यद्यपि मेरी दृष्टि अनवरत आत्मसाक्षात्कार की ओर ही बनी रही है, तथापि यह भी कामना रही है कि सुमुमुक्षुओं और जिज्ञासुओं को 'समयसार' पर एक स्वस्थ, सही, संतुलित और पूर्वाग्रहमुक्त दृष्टि प्राप्त हो। 'निर्मल आत्मा ही समयसार' इसी शुभाकांक्षा की अकिञ्चन परिणति है। किमधिकम्?

—आचार्य विद्यानंद

निर्मल आत्मा ही समयसार

“नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।

चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे।।”

—(समयसार कलश, 1)

स्वानुभूति से चकासित, चैतन्य स्वभाव, सत्तात्मक एवं सम्पूर्ण इतर भावों के उच्छेदक समयसार (निर्मल आत्मद्रव्य) को नमस्कार है।

एक अन्तिम शिखर-केतु

यह आत्मस्तुति है, आत्मवन्दना है, स्व की अर्चा है; नमस्सों की परम्परा में एक अन्तिम शिखर-केतु है। इस आत्मपरिणति की अवस्था को प्राप्त करने के पूर्व अनेक परद्रव्यों को नमस्कार करते जन्म बीता। अनेक स्थानों पर स्वाध्यायमुख से, देवार्चन विधि से, गुरु-उपासना से, तीर्थ-पर्यटन से, बुद्धि-कौशल से परम नमस्स किसी गूढ़ तत्त्व का अन्वेषण करते रहे। ग्रन्थों के अक्षरों में उसे स्वाध्याय की चलनी से छानकर देखने का अभीक्ष्ण प्रयास किया और तब एक दिन किसी प्रबल प्रशस्त योग से सूर्य-शलाकाओं से रात्रि के तिमिर के सम्पूर्ण घटाटोप का विध्वंस कर निर्मल, निरवद्य आत्मदेव का प्रादुर्भाव हुआ। उसका साक्षात्कार होते ही ग्रन्थ खुले-के-खुले रह गये, प्रवचन के श्लोक अर्धोक्ति में समाप्त हो गये और सम्पूर्ण आत्म-भिन्न पटल दिवास्वप्न हो गये। प्रतिक्ष्ण अन्य द्रव्यों को नमस्कार करनेवाले पाणियुगल आज अपने अन्तःस्थ को प्रणामांजलि समर्पित करने के लिए उत्कण्ठित हो उन्मत्त ताल में गाने लगे— ‘नमः समयसाराय’ ‘नमः समयसाराय’ ‘नमः समयसाराय’।

उत्तम रसास्वाद

यह विलक्षण अनुभव है, अद्भुत अमृत स्पर्श है। अमृतस्यन्दी इन्दु-किरणों का स्पर्श क्या इतना आह्लादक हो सकता है? क्या पर-द्रव्यों का अनन्त समवाय युगपत् मिलकर ऐसा अलौकिक आनन्द मन्दिर निर्माण कर सकता है? निषेध-भारती में ही इसका उत्तर दिया जा सकता है। संसार का कोई शब्द, कोई रस, कोई वर्ण, कोई गन्ध इस रस-गन्ध-वर्णादि-रहित आत्मा से प्रसूत उत्तम रसास्वाद का, अनुपम सुरभि और अवर्णनीय वर्ण का वर्णन नहीं कर सकता। यदि अन्य द्रव्यों में इसकी समता का अथवा अतिशायिता का सामर्थ्य होता तो इसे ‘सर्वभावान्तरच्छित्’ कैसे कहा जा सकता ?

कैसे ठहरती?

स्वानुभूति तो आज हुई। इससे पूर्व में हुई अनुभूतियों में तन्मय अवस्था की प्रतीति कहाँ हुई थी? यदि तन्मयता की प्रतीति हुई होती तो अतन्मय बहिर्द्रव्यों में रति कैसे ठहर सकती थी?

अहो ! संसार—परिभ्रमण में रात्रिन्दिव प्रसक्त रहने वाले काच—खंडों का संचय कर उन्हें मणि—रत्न सज्जा प्रदान करते हैं कतिपय गन्धबहुल लता—वृक्षावली को स्थान—विशेष में आरोपित कर उसे नन्दनवन कहने लगते हैं, स्त्री के लावण्य पर मुग्ध हो उसे लक्ष्मी अभिधान से विभूषित करते हैं और इस प्रकार 'धन कन कंचन राजसुख' जैसे सुलभ पदार्थों में रतिमुग्ध होकर उन्हें ही उपास्य, सेव्य और आवश्यक (उपादेय)मानने की भूल कर बैठते हैं; परन्तु संसार की यह भोगावली श्रम से, विनिमय से, बुद्धि से, बल और छल से मिलती रहती है। शास्त्रकारों ने इसे महान् नहीं माना। यदि ये विभूतियाँ तीर्थकरों के भी हों, तो भी उन्हें इन नश्वर लोकसम्पदाओं से महनीय पदवी नहीं*।

कुबेर—कोष से भी अक्रय्य

यहाँ दुर्लभ पद का प्रयोग यदि किया गया है तो वह एकमात्र यथार्थ ज्ञान के लिए; क्योंकि वह कुबेर—कोष—सम्पदा से भी क्रय्य नहीं तथा किसी बलाढ्य के बलदर्पविकथन से वशीकरणीय भी नहीं। यदि ऐसा होता तो संसार के धनिक और बलवान् सर्वाधिक आत्मवान् होते। उसकी प्राप्ति के लिए ऋषि—मुनि महाव्रती न होते। आत्मदर्शियों ने ऐसे वचन, मेधा और बहुश्रुत के दम्भ—पर्वतों को ध्वस्त करते हुए स्पष्ट कह दिया—

‘नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन’

—(कठोपनिषद्, 1/2/23)

इस आत्मा को प्रवचन से, मेधा से अथवा बहुश्रुत होकर प्राप्त नहीं किया जा सकता। तब इसे प्राप्त करने का मार्ग कौन—सा है? मानों इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए समयसार टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा—‘चित्स्वभावस्य स्वयमुपलभ्यमानत्वात्’।

वस्तु कहीं, ढूँढ़े कहीं

हे आत्मारथिन् ! किन प्रपंचों में पड़ गये हो? कहाँ वाद—कोलाहल और कहाँ आत्मा ! यह तो वही उक्ति हुई कि ‘वस्तु कहीं, ढूँढ़े कहीं’ अथवा ‘आम्नान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे’ आम पूछ रहे हैं और कोविदार को बता रहे हो। आत्मा की शोध करने जा

* देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः। मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्।।’

—(आप्तमीमांसा, 1)

रहे हो और उसे पुद्गल—पर्यायों में खोज रहे हो। पूर्व की ओर जाना चाहते हो और पश्चिम की ओर दौड़ लगा रहे हो। यह तो वांछितोपलब्धि का पथ नहीं। सुनो, विलक्षण उपलब्धि का मार्ग भी विलक्षण होता है। तुम यह सब प्रवचन, मेधा—बल तथा श्रुत—दर्प छोड़ो। कुछ काल मौन रहो तथा अपने में ही उस अन्वेष्टव्य का अन्वेषण करो, धैर्य रखो और प्रतीक्षा करो कि परिणाम क्या निकलता है?

वह शान्ति-वन जहाँ

‘विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नाधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः॥’

—(समयसार कलश, 34)

कोलाहल से दूर आत्मा का शान्तिवन वह है जहाँ आत्मा वक्ता, आत्मा श्रोता और आत्मा ही उस उक्त और श्रुत का ध्याता है। वहाँ का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अपूर्व है। उसे ‘उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले’ इस पंक्ति द्वारा कथंचित् स्पष्टीभूत कहा जा सकता है। कोलाहल तो मुखरभाव है और मुखरता अन्तःस्थ संगीत को बाहर करने का बलप्रयोग है जब कि इस आत्मसिद्धि के लिए बाह्यभाव—परिहाणपूर्वक अन्तर्मुख होना आवश्यक प्रतिपादित किया गया है। **उपनिषदों** में इस आत्मस्थिति का वर्णन करते हुए ऋषियों ने कहा है कि जो आत्माराम हैं उन्हें स्वव्यतिरिक्त अन्य का सत्ता—बोध ही नहीं। जैसे जल से उत्पन्न बुदबुद जल में ही खो जाते हैं, वैसे आत्मलीन आत्मा से उठकर आत्मा में ही समाधिस्थ हो जाते हैं। इनको देखने, सुनने, वार्तादि करने के लिए किसी प्रकार के अन्य योग की अपेक्षा नहीं—‘यस्य सर्वमात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र कः कं पश्येत् कः कं पृच्छेत् कः कं शृणुयात्।’ —वहाँ तो ज्ञान—दर्शन—चेतना इतनी स्फीत हो जाती है कि उसमें अखिल विश्व की वेद्यता का समाहार हो जाता है। वहाँ पहुँचा हुआ पुरुष सर्वज्ञ हो जाता है, बुद्ध, वर्द्धमान, शिव कहाने लगता है जिसकी स्तुति में तदनुगामियों के प्रार्थना—स्वर अमन्द हो उठते हैं*।

* ‘यो विश्वं वेद वेद्यं जननजलनिधेर्भगिनः पारदृश्व,
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम्।
तं वन्दे साधुवन्द्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषतं,
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा॥’ —अकलंकस्तोत्र, 9

योगी एकाकी विचरण करे

साधनावस्था में स्वाध्याय, पृच्छा, विचारणा, ऊहापोह, जिज्ञासा आदि को आवश्यक अवश्य कहा गया है। साधु-संगति का भी वहाँ महत्त्वपूर्ण योगदान है। यह तिमिर में दीपकवत् अथवा पंगु को यष्टि-आलम्बनवत् साधन है। एक पर्वतारोही को आरम्भ में आरोहणात्मक श्रम आवश्यक है और आरूढ़ होने पर उस श्रम से विरति अपेक्षित है। अतः उस महत् ज्ञानमय ज्योति को प्राप्त करने के लिए सम्प्रश्नादि पूर्ववस्था में (अनिष्पन्न पर्याय में) आवश्यक हैं। निष्पन्नावस्था में तो 'एक एव चरेद् योगी कुमार्या इव कंकणम्' — योगी एकाकी विचरण करे; क्योंकि 'द्वयोर्वार्ता भवेन् मिथः' — यदि युगल विहार करेंगे तो परस्पर वार्तालाप होगा। वार्ता के लिए वाणी तथा जिह्वा-यंत्र को प्रबुद्ध करना होगा तथा मनोव्यापार को प्रेरक बनाना पड़ेगा। वह मनोव्यापार वार्ता के लिए किन्हीं प्रसंगों का चिन्तन करेगा। वे प्रसंग सदा आत्मिक ही होंगे, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। तब चित्त में विकल्पों का प्रादुर्भाव होगा, संशय उठेंगे और गन्तव्य पथ दिग्भ्रान्ति में पड़ जाएगा*। इसलिए आत्मार्या को बहुत अवधानपूर्वक अपना मार्ग, अपनी चर्या, स्थिर करनी चाहिए। यदि ऐसा अपेक्षित प्रतीत हो कि अभी संगतिकरण आवश्यक है तो उसके एक-एक पल को जिज्ञासा की सम्पूर्ति में लगाना चाहिए—

‘अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत् ।

तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ।।’ — (इष्टोपदेश, 49)

गये और आये तो बहुत

आत्मस्थिति की इस प्रक्रिया की स्थापना में प्रश्न, एषणा आदि उपकारक हैं। आत्मा का दृढ़ श्रद्धान प्राप्त करने के लिए भी तो मार्गबोध चाहिए; नहीं तो 'चलन चलन सब कोई कहे, चलना है किस गाँव' — यह स्थिति महान् अनर्थों का सर्जन कर देगी; क्योंकि यह तो संसार है, संसरणशील है। जगत् है, गतिमय है। यहाँ उपस्थित लोग कुछ जा रहे हैं। कुछ जा चुके हैं। 'लोकोऽयं नाट्यशाला' रंगमंच पर कौन अधिक समयपर्यन्त टिक सका है? एतावता जाना अनिवार्य है; परन्तु कहाँ? 'पशु नारक नर सुरगति मँझार। भव धर धर मर्यो अनन्त बार ।।' गये और आये तो बहुत, परन्तु कहाँ गये, कहाँ तक गये (अंतिम ग्रैवेयक लौं हृद) तथा जाना कहाँ है — यह परिज्ञान तो अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना निरुद्देश्य अन्ध भ्रमण क्या वांछनीय होगा?

* 'जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः ।

भवन्ति तस्मात् संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ।।' — (समाधितन्त्र, 72)

समय के दर्पण में इस गंतव्य गतिविलास का निरीक्षण करना चाहिए। जो वास्तविक गंतव्य को जा चुके हैं, वे सिद्ध हैं, परमात्मा हैं। उन्होंने मार्ग का स्वयं अनुसंधान किया है। उन्होंने ही समीचीन पथ का बोध दिया है। उनमें कतिपय **प्रत्येकबुद्ध**¹ हैं, कतिचन **बोधित बुद्ध**² हैं और अन्य कतिचन **स्वयंबुद्ध**³ हैं। भगवान् आदिनाथ को नीलांजना नामा दिव्य नर्तकी के आकस्मिक निधन से सांसारिक क्षणभंगुरता का बोध हुआ, अतः वे **प्रत्येकबुद्ध** परमात्मा हैं। भगवान् नेमिनाथ ने पशुओं को एक स्थान पर निगडित देखा और वे विवाह—मण्डप में न जाकर ऊर्जयन्त गिरि पर तपश्चर्यार्थ चले गये। वे **बोधितबुद्ध** परमात्मा हैं। इसी प्रकार निमित्त के बिना भी स्वयं आत्मा में उत्कट विराग भावना समुत्पन्न होने से अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर वर्द्धमान ने निवृत्ति—मार्ग स्वीकार किया। वह **स्वयंबुद्ध** सर्वज्ञ भगवान् हैं। इन्होंने 'जाना है किस ठौर' इस प्रश्न का समाधान प्राप्त किया और विश्व को वह परम मार्ग बताया। वे नमस्य हैं, नित्य प्रणम्य हैं।

‘पतेयसयंबुद्धा बोहियबुद्धा य होंति ते सिद्धा ।

पतेयं पतेयं समये समयं पणिवदामि सदा ।।’

—(आचार्य कुन्दकुन्द, सिद्धभक्ति 7)

उन्होंने समय को अपना बना लिया, स्वाधिकार में ले लिया। अब समय उनकी सम्पत्ति हो गया। वे स्वयं समयमय अथवा समय हो गये। समय का कालपरक अर्थ गौण हो गया और समय के समयरूप में परमात्मा का अभिधान अन्वित होकर यशोभाजन हो उठा—‘परमप्पो खलु समओ’।

समीचीन पथ-बोध

तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञानियों की इस विधि में आकर समय ने अपने आपको पर्याप्त समुन्नत किया। वह अब कालाणुमात्र नहीं रहा, जैसा कि ‘प्रवचनसार’ का वचन है—

‘वदिवदितो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुब्बो ।

जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्ण पद्धंसी ।।’ —(2/47)

1. प्रत्येकबुद्ध वे हैं जो किसी एक वैराग्य (नीलांजना नृत्य आदि) निमित्त को देखकर वैराग्य को प्राप्त हुए।
2. बोधितबुद्ध वे हैं जिन्होंने संसार के भोगों को अशाश्वत जानकर वैराग्य धारण किया।
3. स्वयंबुद्ध वे हैं जो कारण विशेष के बिना स्वयं आत्मचेतना से निवृत्त हुए। यथा—भगवान् सन्मति वर्द्धमान तीर्थंकर।

‘एकको व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य ।

दव्वाणं च पदेसा संति हि समय ति कालस्य ।।’ —(2/49)

(आकाश के एक प्रदेश में मन्द गमन से गति करनेवाले पुद्गल—परमाणु को जितना कुछ सूक्ष्म काल लगे तत्सम कालपदार्थ समय नाम पर्याय कहा जाता है। उस पर्याय से पर और पूर्व जो नित्य पदार्थ है, वह कालनामा पदार्थ है (2/47); कालद्रव्य के बिना शेष पाँच द्रव्यों के निर्विभाग अंशरूप प्रदेश एक, दो, बहुत, असंख्यात तथा अनंत सदा रहते हैं। कालद्रव्य का समय पर्यायरूप एक प्रदेश निश्चय कर जानना चाहिए । 2/49)

नये अर्थ की प्रतिष्ठा

समय की इस आत्मानुभूति—रसमयी परिणति पर, उसके विशिष्टार्थपरक होने पर हठात् एक धर्मसूक्ति का स्मरण हो उठा है। श्री वादिराज ‘एकीभाव स्तोत्र’ में मानस्तम्भ पर एक सदुक्ति का गुम्फन करते हुए कहते हैं कि यदि मनुष्य—भव के दुरभिमान का स्तम्भन अथवा शमन करने में मानस्तम्भ की समर्थता है तो वह इसलिए नहीं है कि स्तम्भ की तुंगता अधिक है किंवा उसके शिल्प में मणि—राशियों की प्रचुरता से उपयोग किया गया है; क्योंकि रत्नादि जड़ द्रव्य तो अन्यत्र भी पुष्कल मिल जाएँगे तथा एक मात्र ऊँचाई को ही उसका हेतु मानें तो पर्वतादि का उच्छ्रय उससे कहीं अधिक है। अतः मानस्तम्भ की रत्नमयता और तुंगता मनुष्यों के लिए अभिमान—रोग—शमन में हेतुभूत नहीं हैं। उसमें मुख्य हेतु जिनेन्द्र भगवान् की सन्निधि है। उस सन्निधि ने ही मानस्तम्भ को मानस्तम्भत्व प्रदान किया है—

‘पाषाणात्मा तदितरसमः केवलं रत्नमूर्ति—

मानस्तम्भो भवति च परस्तादृशो रत्नवर्गः ।

दृष्टिप्राप्तो हरति स कथं मानरोगं नराणां,

प्रत्यासत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्तिहेतुः ।।’

—(एकीभावस्तोत्रम्, 9)

शिव और शव में प्राणशक्ति की उपस्थिति—अनुपस्थिति का ही तो भेद है। यावत् प्राणों की विद्यमानता है तावत् यह जड़, पुद्गलस्कन्ध शरीर में शिव है और जिस क्षण इससे प्राणवियुक्ति हो जाती है, यह शरीर शव हो जाता है। उत्तम के सन्निधान से वस्तु में उत्तमत्व का आविर्भाव हो जाता है। पाषाण भी प्रतिष्ठाविधि के अनन्तर देवत्व ग्रहण कर लेता है। समय शब्द के साथ परमात्मार्थ का आविर्भाव करनेवालों ने इसकी निरुक्तियों में अनुपम सुखसंवर्धक भावराशियों की सृष्टि की है।

समओ खलु णिम्मलो अप्पा

आचार्य कुन्दकुन्द ने समय का अर्थ निर्मल आत्मा (परमात्मा) किया है। रयणसार की 158वीं गाथा में कहा है कि 'रत्नत्रय ही गण है, मोक्षमार्ग ही गच्छ है, गुणों का संघात ही संघ है तथा निर्मल आत्मा ही परमात्मा है*'—

‘रयणत्तयमेव गणं, गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स ।

संघो गुणसंघादो, समओ खलु णिम्मलो अप्पा ।।’

—(रयणसार, 158)

वस्तुतः निर्मल आत्मा की प्राप्ति को ही सर्वोपरि ध्येय मानने वालों को इतर हेयद्रव्यों के समान गण, गच्छ और संघ भी अन्ततः त्याज्य हैं। जहाँ निर्ग्रन्थ अवस्था अशेष ग्रन्थिविमोक्तकारिणी है वहाँ निर्मल आत्मद्रव्य के अतिरिक्त कौन स्वकीय है? गण, गच्छों का भेद लेकर उन्हीं के साथ अपना अभेदान्वय रखनेवाले आत्मा में निर्मलता कैसे ला पायेंगे? क्योंकि उनके आत्मा में तो गण, गच्छ, संघ और उनके नियमादि ओतप्रोत हैं सम्भव है, आत्मा से भी अधिक गण—गच्छादि में व्यवहार करनेवाले परसमय—निष्ठों को लक्ष्य करते हुए ही आचार्य ने उक्त पारमार्थिक नवीन निश्चयात्मिका व्याख्या की हो तथा परसमयों पर मुखर कटाक्ष किया हो।

समय ही सामायिक

भावसामायिक का निरूपण करते हुए 'मूलाचार' में प्रतिपादित किया गया है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, संयम और तपों से जीव के एकीभाव को समय कहते हैं; तथा इस (इत्थंलक्षण) समय को ही सामायिक समझो—

‘संमत्तणाणसंजमतवेहिं जं जं पस्सत्थसमगमणं ।

समयंतु तं तु भणिदं तमेव सामाइअं जाणे ।।’ —(मूलाचार 7/18)

समय में स्थित होना ही सामायिक है। जो प्रतिक्षण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं संयम—तपों से अपने साथ ऐक्य की प्रतीति करता है तथा परीषहों को जीतकर, दुर्लेश्या, दुर्ध्यान आदि से अबद्ध रहता हुआ आत्मध्यान—मग्न है, वह सामायिकवान् है। वही वास्तविक मोक्षपथिक है। मोक्षार्थी का स्थितिकेन्द्र आत्मा, ध्येय आत्मा, अनुभवनीय

* ‘णाणमिह दंसणमिह य चरणमिह य तीसु समयसारेसु ।

चाएदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधणी सो ।।’ —(भगवती आराधना 289)

—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र रूप समयसार—आत्मा है। आचार्य वही है जो समयसारभूत आत्मा में संघ को स्थापित कर सके।

आत्मा तथा विहरणीय—विचरणीय भी आत्मा । इस आत्मा से भिन्न समस्त द्रव्य श्वपचवत् अस्पृश्य । आत्मा ही राजा और आत्मा ही प्रजा । आत्मा ही राष्ट्र और आत्मा ही लोक । आत्मा ही पाचक और आत्मा ही भोक्ता । आत्मा ही दृश्य और आत्मा ही दर्शक । ऐसा एकान्त प्रदेश जहाँ अन्यो का प्रवेश निषिद्ध ।

आचार्य पूज्यपाद ने समय का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए लिखा है—‘समेकीभावे वर्तते । तद् यथा संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते । एकत्वेन अयनं गमनं समयः । समय एव सामायिकम् । समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम् ।’ —अर्थात् ‘सम्’ यह संगतिपरक शब्द है । जैसे ‘संगतं घृतम्’ का अर्थ एकीभूत घृत है । ‘समय’ शब्द का पूर्वार्द्ध यही एकीभावद्योतक ‘सम्’ उपसर्ग है । इसका उत्तरपद ‘अय’ है । ‘अय’ का अर्थ गति, गमन है । ‘समुदायो ह्यर्थवान् समुदायरस्यैकदेशो निरर्थकः’ इस वैयाकरणोक्ति के अनुसार ‘सम्’ और ‘अय’ से निष्पन्न ‘समय’ का अर्थ एक हो जाना है । यह एकीभाव सजातीय में ही घटित होता है, विजातीय में नहीं । जैसे तिल—तण्डुलों को एकत्र करने पर भी वे पृथक्—पृथक् प्रतीत होते रहेंगे; अतः आत्मद्रव्य एकाकी होने से उसका किसी इतर के साथ एकीभाव नहीं हो सकता । यह आत्म—पुद्गल के मिश्रण का प्रत्याख्यान ही आत्मा का समय है । इस समय की साधनावस्था सामायिक है । सामायिक ही समय—धर्म है । जितना समय समय—चिंतन (आत्मस्थिति) में उपयोगबद्ध है उतना ही सामयिक भी कहा जा सकता है, जिसका अर्थ प्राप्तकाल है । ‘समयस्तदस्य प्राप्तम्’ (जैनेन्द्र व्याकरण, 3/4/98) का तात्त्विक विमर्श यही संकेत ध्वनित करता है । अतः जितना समय समय को दिया गया वह सामयिक है और सामायिक भी; किन्तु समयतन्मयता से बहिर्भूत समयोपयोग असामयिक और असामायिक ही है । श्री समन्तभद्रस्वामी ने समयज्ञा उन्हें ही माना है जो समय (आगम तथा आत्मा) को जानते हैं । ‘समयं जानन्ति समयज्ञाः’ (रत्नकरण्ड श्रावकाचार 4/8) यहाँ धर्म प्रेरणा को उपेक्षित करनेवाले करुणाशील आचार्य समय में स्थितीकरण के लिए, यदि अधिक काल कोई न दे सके उसे अत्यल्प समय भी निकालकर सामायिक करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं कि वह भी सामायिकवान् है जो अपने केशबन्ध, मुष्टिबन्ध, वस्त्रबन्ध और पर्यकासनबन्ध परिमाण समय को भी स्वोपयोग में स्थिर करता है । इस विलक्षण साधर्मीरस्नेह के सुभाषित हैं—

‘मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं पर्यकबन्धनं चापि ।

स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः ।।’

—(रत्नकरण्ड श्रावकाचार 4/8)

‘अयि कमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्,
अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन,
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहं ।।

—(समयसार कलश 23)

हे भव्य ! तत्त्व की जिज्ञासा के लिए किसी प्रकार से भी मृतक (मर मिट जाने की) अवस्था का अनुभव करते हुए भी अपने चैतन्य पुरुष को इस जड़ पुद्गलावच्छिन्न देह से पृथक् देखने का प्रयत्न मुहूर्त भर के लिए ही करो। ऐसा प्रयत्न करने से अपने स्व को शरीर से अलग जानकर तत्क्षण ही तुम इस मूर्ति के साथ कल्पित अपने एकत्व मोह से मुक्त हो जाओगे।—

‘सबे जीवा णाणमया जो समभाव मुणेइ ।

सो सामाइय जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ ।।’ —(योगसार, 99)

सम्पूर्ण जीव ज्ञानमय हैं (लब्धि-अक्षर से केवलज्ञानपर्यन्त) — इस प्रकार का जो समभाव है, वह सामायिक है—ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का वचन है।

‘अयनमयः सम एकत्वेन अयनं गमनं परिणमनं समयः । समय एव सामायिकम् स्वार्थे इकण् । अथवा समयः प्रयोजनमस्येति सामायिकम् । प्रयोजनार्थे इकण् । कोऽर्थः देववन्दनायां निःसंकलेशं सर्वप्राणिसमताचिंतनं सामायिकमित्यर्थः । —(तत्त्वार्थवृत्ति, 7/21)

समय शब्द के साथ इकण् प्रत्यय से स्वार्थ में सामायिक पद सिद्ध किया गया है जिसका अर्थ हुआ ‘एकरूप से परिणमन करना’। यह समय ही सामायिक है। अथवा प्रयोजन अर्थ में इकण् प्रत्यय करने पर ‘समय अर्थात् एकत्वपरिणति ही जिसका प्रयोजन हो’ वह सामायिक है। तात्पर्य यह कि देव वन्दना आदि काल में बिना संकलेश के सब प्राणियों में समता आदि का चिंतन करना सामायिक है।

“एकत्वेन गमनं समयः । प्रतिनियतकायवाङ्मनस्कर्मापर्यायार्थं प्रतिनिवृत्तत्वादात्मनो द्रव्यार्थनैकत्वगमनमित्यर्थः” (तत्त्वार्थराजवार्तिक 7/21); अर्थात् मन, वचन और काय की क्रियाओं से निवृत्त होकर एक आत्मद्रव्य में लीन हो जाना समय है।

‘अनन्ताः सामायिकसिद्धाः’ इत्येतदपि त्रितयमेव साधयति । कथम्? ज्ञस्वभावस्यात्मनस्तत्त्वं श्रद्धाधनस्य सामायिकचारित्रोपपत्तेः । समय एकत्वमभेद इत्यनर्थान्तरम् । समय एव सामायिकं चारित्रं सर्वसावद्यनिवृत्तिरिति अभेदेन संग्रहादिति ।

—(राजवार्तिक सूत्र 1/1, वार्तिक 49)

‘सामायिक से सिद्धि प्राप्त करनेवाले सिद्ध भगवान् अनन्त हुए हैं’ यह कथन

भी सम्यक्त्रयी का समर्थक है; क्योंकि ज्ञानदर्शनलक्षण आत्मा जब तत्त्वश्रद्धान—प्रवृत्त होता है तब उसे चारित्ररूप उपपत्ति होती है। अतः समय, अभेद और एकत्व तीनों शब्द समानार्थक हैं। समय ही सामायिक है, चारित्र है, सर्वसावधानिवृत्ति है—इत्यादि अर्थ अभेद से संगृहीत हैं। इस आशय पर अमृतचन्द्रसूरि की एक सदुक्ति पठनीय है—

“एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक—,
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतसि ।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्,
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥”

—(समयसार कलश, 240)

इस आत्मतन्मय स्थिति को आचार्य माघनन्दी ने समयसार स्वरूप कहा है—
‘समयसारस्वरूपोऽहम्’ —(ध्यानसूत्र, 45)। परन्तु यह उपलब्धि नितान्त वाचिक नहीं है। एक असत्यभाषी अपने विषय में यदि उच्चस्वर में अपने सत्यवक्ता होने की घोषणा करे तो वह परिचितों में परिहास—पात्र ही होता है क्योंकि वास्तविकता से असंस्पृष्ट शब्दों का अर्थ व्याहत हो जाता है। ऐसे पुरुषों को लक्ष्य करते हुए आचार्यों ने कहा है कि वास्तविक तत्त्वज्ञान से अपरिचित निर्मल समयसार का दर्शन नहीं कर पाते—

“ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना,
लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः ।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा—,
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥”

—(समयसार कलश, 241)

तत्त्वावबोध का यह मार्ग भिन्न है और द्रव्यलिंग—ममकार—मीलितों का मार्ग अलग है। द्रव्यलिंगी बाह्यचेतनासक्त होता है तो भावलिंगी अन्तश्चक्षु। समयसार की स्थिति आत्मा है और अन्यासक्त का रतिकेन्द्र पुद्गल—परिवार है। आत्मभावी ध्यानस्थ होकर सोचता है—

“नाहं रामो न मे वाञ्छा भोगेष्वपि न मे मनः ।
शानत आसितुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥”

—(योगवासिष्ठ, 15/8)

मैं राम नहीं, भोगों में मेरा मन नहीं। मैं तो आत्मस्वरूप हूँ और जिनेन्द्र प्रभु के समान आत्मा में ही स्थिति चाहता हूँ क्योंकि ‘राम’ यह नाम तो मेरे इस पुरुषपर्याय

का संकेतपद है। यह नश्वर है। इस नाम के साथ अपने सम्पर्क की भावना करना बहिर्दृष्टि है। मोह-भावना है, अहंकार-प्रबोध है। 'रामोऽहम्' कहते ही सारे लौकिक दर्प उपस्थित हो जाते हैं कि मैं राम हूँ—अयोध्यापति, रावणजेता, रक्षःसंहारकारी, पितृआज्ञापालक, लोकनमस्कृत और जाने क्या-क्या? जितना बड़ा व्यक्ति उतने दीर्घ-दीर्घतर उसके विभाव-संयोग और जितने दीर्घ-दीर्घतर विभाव-संयोग उतना अधिक बन्धन, मोह, ममता तथा आर्त-रौद्र। इन सम्पूर्ण उपाधि-विभावों से आत्मचेतना का क्या सम्बन्ध? 'आत्मान्यः पुद्गलश्चान्यः' आत्मा अन्य है और पुद्गल अन्य है। पुद्गल स्थूल है, कृश है, शुक्ल है, मरणधर्मा है, क्षयी है। ये बाह्य विकल्परूप आत्मा में नहीं है। वह इस दैन्य से बहुत ऊपर है अमर, अमृतमय, आनन्दस्वरूप, ज्ञानमय, चैतन्य। इसीलिए मुनिवृत्ति अपनाने वालों ने दिगम्बर होकर, क्षुत्पिपासादि सहन कर, अनिकेतव्रत लेकर, इन्द्रियों का दमन कर देह को अकिंचन बनाया और आत्मा को परमवैभव (मुक्ति श्री) प्रदान किया। देह अकिंचन है और आत्मा परम सम्राट्—यह निर्ग्रन्थमुद्रा आत्मनिष्ठों की वह सांकेतिक भाषा है जिसमें अपरिमित आनन्द के छन्दों की सृष्टि हुई है—

आत्मा पुद्गल से भिन्न

‘णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।

कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।।’

—(प्रवचनसार, 2/68)

यह देह, मन, वाणी आत्मा नहीं है, समय नहीं है। न यह उनका कारण है और न कर्ता, कारयिता तथा अनुमन्ता है; क्योंकि आत्मा पुद्गल से भिन्न कहा गया है। न्यायशास्त्र कहता है—‘घटो न भवति पटः, पटो वा न भवति घटः, घट है वह पट नहीं होता और पट है वह घट नहीं होता। जब दो पुद्गल द्रव्य सहसा परपरिणति नहीं करते तब विशुद्ध आत्मद्रव्य पुद्गलद्रव्यों में परिणमन कैसे करेगा? आत्मा के नामरूप से अतीत वैशिष्ट्य का ज्ञान रखनेवालों ने इसी आशय को सहस्रधा परिस्फुट करते हुए आत्मा को चिदानन्द वीतराग कहा है—‘चिदानन्दरूपं नमो वीतरागम्’।

जब जीवात्मा शुद्ध निश्चयनय से पृथक् होकर व्यवहारनय में प्रवृत्त होता है तब अपने को ‘रामोऽहं कृष्णोऽहं स्थूलोऽहं कृशोऽहं पुमानहं स्त्री—अहं’ इत्यादि कहता है परन्तु पारमार्थिक निश्चय भाषा में अहं के साथ ये पुद्गलविभाव सम्बद्ध नहीं रखते। जब कुम्भ का निर्माण होता है तब उसके उपादान और निमित्त कारण अपेक्षित रहते हैं। उस समय मिट्टी का पिण्ड, चक्र, चीवर, दण्ड, कुलाल एवं सूत्र आवश्यक हैं, परन्तु

अग्नि—पक्व होने पर घट को जब पानी भरने के प्रयोग में लिया जाता है तब उन कुलाल—चक्रादि की अपेक्षा नहीं रहती—

‘मृत्पिण्डदण्डचक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते।

उदकाहरणे तस्य तदपेक्षा न विद्यते।।’ —(श्लोकवार्तिक, 2/48)

आत्मा जब अपने शुद्ध द्रव्य का चिन्तन करता है, तब वह भी अपने स्थूल नाम—रूपों की संज्ञा से अलग रहता है। आत्मचिन्तन में ‘क्षत्रियकुमारो रामोऽहं ध्यायामि’ मैं क्षत्रिय पुत्र राम ध्यान करता हूँ—ऐसा कथन सम्यक् नहीं है; क्योंकि ध्याता आत्मा है, वह चेतन है। क्षत्रिय पुत्र के नाम से परिचित पिण्डात्मक देह जड़ है, वह ध्यान कैसे कर सकता है? अतः ‘आत्मा आत्मानं ध्यायामि’ यह कथन युक्त है।

जाति, लिंग, नाम, द्रव्य आदि में समय (आत्मा) का आग्रह करनेवाले बहिरात्मा हैं, उन्हें मूढदृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये। आत्मप्रदेश से बाहर परिभ्रमण करते रहने से उन्हें आत्मपद में प्रतिष्ठित होने का लाभ नहीं मिलता—

‘जातिलिंगविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।

तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः।।’ —(समाधिशतक, 89)

इस परपरिणति और स्वपरिणति को शास्त्रकारों ने अनेक विधियों द्वारा समझाने का अपूर्व प्रयास किया है। जैसे मधुर पक्वान्न में अनेक नाम—रूप जातियाँ होती हैं; परन्तु सबमें मिष्टत्व शर्कराजन्य ही होता है वैसे शास्त्रोपदेश के विविध सन्दर्भ अनेक वर्णन—शैली में भिन्न प्रतीत होते हुए भी ‘जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः’ का उपबृंहण—मात्र हैं। परिणामतः स्वपरिणति श्लाघ्य है और पररति त्याज्य है। इसे स्वसमय और परसमय नाम से निरूपित करते हुए प्रवचनसार की गाथा है—

‘जे पज्जएसु णिरदा जीवा परसमयिग ति णिदिद्धा।

आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा।।’

—(प्रवचनसार, 2/2)

शास्त्र नहीं, शास्त्राभास

‘परिणामों में परत्व को स्व में अध्यवसित करनेवाले परसमयिक हैं तथा आत्मा के शुद्ध स्वभाव में स्थित हैं वे स्वसमय हैं।’ संसारी जीवों की परसमय—रति प्रायः अधिक होती है। संसार के चाक—चक्य उत्पन्न करनेवाले पदार्थ उन्हें सहसा आकर्षित कर लेते हैं और परिणामस्वरूप ऐसे पुरुष धनपतित्व, नरपतित्व, चक्रवर्तित्व आदि लोक में देहसुख प्रदान करनेवाले पौद्गलिक चक्रव्यूह में घिर जाते हैं। उन्हें ऐसा मति—विभ्रम होने लगता है कि देवता धन—सम्पत्ति देते हैं, शास्त्रों में लौकिक सुखों का

वर्णन है और गुरुदेव का पुरुषार्थ हमें संसार—सागर से पार उतारने वाली नौका है; परन्तु सत्य इससे भिन्न होता है। शास्त्रों का विषय तत्त्वज्ञान—संग्रह है, गुरुदेव मार्गोपदेष्टा हैं और सुखदाता अथवा दुःखप्रसविता देव नहीं, अपने कर्म हैं। 'परो ददातीति विमुंच श्रेमुषीम्' —यह सम्यग्दृष्टि की दर्शनलब्धि है। जहाँ धनादि नश्वर पदार्थों की स्तुति है, वे शास्त्र नहीं, शास्त्राभास हैं और जहाँ सुख—दुःख प्रदाता देव बताये गये हैं, वह कर्म—मीमांसा से अनभिज्ञ विषय देवाभास है। ऐसे गुरुदेव ही जहाँ सर्व शिष्य समूह के लिए मोक्षाधिकार लिये हुए हैं वे कोई मिथ्यागुरु होंगे। सम्यग्दृष्टि भव्यों को इन तीनों क्षेत्रों में अपनी ही अमूढदृष्टि का सहयोग लेना चाहिए। 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में चेतावनी के स्वर स्मरणीय हैं—

‘लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।

नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम्।।’ —(पुरुषार्थ, 26)

किं च— **‘इह जन्मनि विभवादीनमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।**

एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत्।।’ —(पुरुषार्थ, 24)

नय—नदियाँ

परसमय का परिज्ञान यदि परसमयनिवर्तक और स्वसमयप्रवर्तक होता है तो यह बाधक नहीं, प्रत्युत तत्त्वज्ञान में सहायक है। ब्रह्म को धारण करने के लिए अब्रह्म का ज्ञानपूर्वक परित्याग ब्रती को ब्रह्म के मिथ्यापक्ष (अब्रह्मचर्य) से परित्राण ही प्रदान करता है; परन्तु परसमय के साथ मैत्री करना शोचनीय है, आत्मघात—सदृश है। जानने मात्र पर्यवसितवृत्ति तो सर्वज्ञ भगवान् में भी है। वे परसमयों को तथा स्वसमय को जानते हैं; परन्तु तन्मयता उनकी स्वसमय में ही है—

‘जाणदि परस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।

केवलणाणी जाणदि परस्सदि णियमेण अप्पाणं।।’ —(नियमसार, 159)

‘दव्वगुणपज्जएहिं जाणदि परसमयसमयादिविभेयं।

अप्पाणं जाणदि सो सिवगदिपहणायगो होदि।।’ —(रयणसार, 144)

‘दोण्हवि णयाण भणिदं जाणदि णवरिं तु समयपडिबद्धो।

ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो।।’

—(समयसार, 143)

केवली भगवान् श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार और निश्चयनयपक्ष को जानते अवश्य हैं; क्योंकि सर्वज्ञ हैं, किन्तु सहज उल्लसित अमन्दआनन्दकल्लोलसंकुल अपने अखिल ज्ञानसिन्धु में नित्य निमग्न रहने से किसी नयपक्ष का तन्मयत्वेन ग्रहण नहीं

करते हैं। क्योंकि नयवाद व्यवहार हैं और व्यवहार परसमय हैं—

‘जावइया वयणपहा, तावइया चैव हुंति णयवाया।

जावइया णयवाया, तावइया हुंति परसमया।।’

—(सन्मतितर्क, 3/47)

इन अपरिशुद्ध नयों की परिसंख्या नहीं है। ये तो निश्चयसिंधु को प्राप्त करानेवाली नदी की सहस्र धाराएँ हैं। धाराओं से समुद्र में पहुँचा जा सकता है, परन्तु धाराएँ समुद्र नहीं हो सकतीं। आचार्य सिद्धसेन द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका में इन नय और निश्चय का विभेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

‘उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः।

न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः।।’ —(4/15)

साक्षात् समयसार

निश्चय के एकान्त प्रदेश में वीतरागभाव की अव्याहत स्थिति है। वहाँ नयपक्ष की संकल्पविकल्पचातुरी का प्रवेश निषिद्ध है। इन्हें वहाँ पहुँचा हुआ पुरुष इन्द्रजालवत् समझता है, सिन्धु-लहरियों सा अनुभव करता है। वह अन्तर्वहिः समरस होने से इन एक देशव्यापी परसमयों से नितान्त असंस्पृष्ट रहता है। आत्मा के सम्यग्दर्शनज्ञानरूप शुद्ध उपयोग में स्थित रहनेवाला नयपराङ्मुख होकर साक्षात् समयसार हो जाता है। समयसार और सम्यग्दर्शन-ज्ञान एकानुप्रविष्ट समानार्थी शब्द युगल हैं। जो समयसार है, वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान है। यह समयसार केवलज्ञानादि अनन्त गुणों का पुंज है। यहाँ निश्चय का एकमात्र नित्यरम्य प्रदेश है; किन्तु नयपक्ष का लेश भी नहीं। विकल्पों के गहन वन को पार करने पर विज्ञानघनस्वभाव इस समयसार रूप आनन्दभूमि की प्राप्ति होती है—

‘कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।

णयपक्खादिककंतो भण्णदि जो सो समयसारो।।

सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदि ति णवरि ववदेसं।

सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।।’

—(समयसार, 142/144)

आत्मा की शोभा : स्व-परिणति

प्रत्येक वस्तु स्व-स्वरूप में अवस्थित शोभायमान होती है। अग्नि का दाहकत्व उसका स्वधर्म, स्वगुण होने से शोभनीय है। जल का शीतत्व-पावनत्व गुण उसकी

श्लाघा है। इसीप्रकार आत्मा की शोभा उसकी स्वपरिणति अथवा मुक्तावस्था है। उत्तम—मध्यम—अधम पर्यायधारी होकर देव—मनुष्य—तिर्यक् योनियों का सहचारित्व आत्मा के स्वाभाविक गुणों का आवरण करता है, अल्प बनाता है। आचार्यों ने समय की व्याख्या करते हुए कहा है—‘समयते इति समयः’ अर्थात् एकीभाव से अपने गुणपर्यायों में जो अपना परिणमन करे वह समय है। एतावता धर्म, अधर्म, आकाश, काल पुद्गल और जीव द्रव्य स्वस्वधर्मस्थिति से सुन्दरता प्राप्त करते हैं। यह सत्य और सुन्दर होते हुए भी जीव अनादिकाल से पुद्गल के साथ साहचर्य करने से असुन्दर होकर बन्धदशा को प्राप्त हो रहा है। यह इसका परसमय है, परपरिणति है, मोक्षक्षय है, संसारपरावर्तन है।

वह स्व-सुख नहीं

‘एयत्तणिच्छयगदो समओ सब्वत्थ सुन्दरो लोगे।

बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि।। —(समयसार, 3)

एकत्व—निश्चय में प्राप्त समय सब लोक में सुन्दर है, इसलिए एकत्व में दूसरे के साथ बंध की कथा निन्दा करानेवाली है। आशय यह है कि सामान्यतया सभी पदार्थ समय शब्द से कहे जाते हैं; क्योंकि समय शब्द का अर्थ है—‘समयते इति समयः’ अर्थात् एकीभाव से अपने गुण—पर्यायों को प्राप्त हुआ जो परिणमन करे वह समय है। इसलिए धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव द्रव्य स्वरूप लोक में जो कुछ पदार्थ हैं वे सभी यद्यपि अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न हुए अपने अनन्त धर्मों का स्पर्श करते हैं, तथापि परस्पर में एक—दूसरे का स्पर्श नहीं करते। यद्यपि वे अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाह रूप स्थित हैं तथापि सदाकाल निश्चय से अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते। अतएव विरुद्ध कार्य और अविरुद्ध कार्य (स्वभाव से विपरीत कार्य और स्वभावरूप कार्य) दोनों में सदा सब परस्पर उपकार करते हैं; परन्तु निश्चय से एकत्वनिश्चय प्राप्त होने से ही सुन्दरता प्राप्त करते हैं। यदि वे द्रव्य अन्य द्रव्यरूप परिणमनशील हो जाएँ तो संकर—व्यतिकर आदि सभी दोष उनमें आ जाएँ। इस प्रकार सब पदार्थों का भिन्न—भिन्न एकत्व सिद्ध होने पर जीव नामक समय को बंध की कथा से विसंवाद की आपत्ति होती है; क्योंकि बन्धकथा का मूल कारण पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित रूप पर—समयता से उत्पन्न जीव में पर—समय, स्व—समयरूप द्विविधता आती है। अतः समय का एकत्व होना ही सिद्ध होता है। सारांश यह कि निश्चय से सब पदार्थ स्व—स्वभाव—स्थित होने से शोभा पाते हैं, परन्तु जीव नामक पदार्थ अनादि काल से पुद्गल कर्म के साथ बंध प्राप्त है, उससे इस जीव में विसंवाद खड़ा होता है, इसलिए

शोभा नहीं पाता; अतः एकत्व होना इसके लिए शोभा—जनक है।

यह एकत्व—निश्चय—प्राप्त समय सब लोक में सुन्दर है। वस्तु यथा—जात—रूप ही उसका सौंदर्य होता है। परानुप्रविष्ट होने पर उसमें कृत्रिमता तथा परगुण का समावेश हो जाता है जो उसके मूल सौंदर्य को संकीर्ण तथा गौण बना देता है। अपने स्वाभाविक रूपाभिजात्य का विस्मरण कर उसे परकीय गुणसन्निवेश से उत्कृष्ट मानना स्वगुण—गौरव का तिरस्कार नहीं तो क्या है? एक भारतीय जब अपनी मातृ—भाषा का परित्याग कर 'मेकाले' की भाषा में गर्वानुभूति करता है; तब वह अपनी भाषा को हीन, अपने वेष को अमद्र मानकर उस परच्छन्द के साथ होने में कथंचित् अपने को सुखी मानता है। उसका वह सुख स्वसुख नहीं, पर सुखसंकर दोषमात्र है। पर समय को अंगीकार करने से इसी स्वसमय का तिरस्कार होता है। यह उपेक्षा जीव के लिए अधोगतिकारिणी होती है।

परम वैभव की यशःपताका

इस संदर्भ में समय के तीन भेद किये जा सकते हैं—**कुसमय, सुसमय और स्वसमय**। इन्हें **बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा** भी कह सकते हैं। ये ही आत्मा के अशुभ परिणाम, शुभ परिणाम तथा शुद्ध परिणाम हैं। अशुभ परिणाम कुगतिदायी हैं तथा शुभ परिणाम सुगतिप्रद हैं; किन्तु मुक्ति शुद्ध परिणाम का ही परिणाम है। स्वतंत्रता की प्राप्ति, आत्मतंत्र पर स्वाधिकार अथवा सर्वबंधराहित्य **स्वसमय** का वरदान है। जीव जब तक अशुद्ध दशाओं में संचरण करता है तब तक विशुद्धि नहीं पा सकता—

‘काजल की कोठरी में केतो हू सयानो जाय।

काजल की एक रेख लागी है पै लागी है।।’

कज्जल के अंगण और कज्जल की भित्तियों में बंदी हुआ व्यक्ति उसकी कालिमा से कहाँ बच पाता है ! जो विकृतियों की उपासना करेगा उसे विकृतियाँ मिलेंगी और जो सुकृतमार्गी होगा उसको सुकृतों की उपलब्धि से कौन वंचित कर सकता है; क्योंकि **‘कर्माधीनमिदं जगत्’** यह संसार कर्म की शलाका से लिखा हुआ चित्रपट है। यदि इस लोक में किसी का मुख वक्र—विदूष है तो वह कर्म—दर्पण की छाया ही है। **कु** और **सु** पद कुत्सा और प्रशंसा के वाचक हैं तथा कुत्सा और प्रशंसा के भाव नितान्त जागतिक हैं। इनसे ऊपर उठकर ही लोकाकाश तथा धर्मास्तिकाय की चरम सीमाओं पर स्थिर आसन लगाया जा सकता है। वह **स्थिरासन स्वसमय की** परिणति है, आत्मा के परम वैभव की यशःपताका है, घोर संसारवारिधि—सन्तरण का पौरुषाभिलेख है। इसी परिणाम—त्रयी की व्याख्या में कहा गया है—

‘सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणिदमण्णेषु ।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ।।’

—(प्रवचनसार, 2/89)

अन्तिम गन्तव्य

परमागम में पुण्य को शुभ परिणामी एवं पाप को अशुभकारी बताया गया है; किंतु सर्वदुःखक्षयकारी परिणाम तो आत्मा का अनन्य परिणाम ही है। जब तक जीव बहिरात्मा रहता है, उसे शान्ति नहीं मिलती। जैसे चलती हुई दीवार-घड़ी का पेण्डुलम भी चलता रहता है, वैसे बहिरात्मा का मन भी चलायमान रहता है। चंचलता की यह स्थिति तब तक बनी रहती है, जब तक बाहरी भटकावों की परिसमाप्ति नहीं होती और बाहरी दुष्पर्यटन का अवसान तब तक नहीं होता जब तक यह जीव स्वस्थित नहीं हो जाता। शुभ और अशुभ परिणाममय औदयिक भावों की सत्ता के रहने तक जीव सातावेदनीय तथा असातावेदनीय कर्मों के बन्धयुगल से मुक्त नहीं हो सकता। उपशम, क्षयोपशम तथा क्षायिक भावों से ही बंध की निर्जरा सम्भाव्य है। कर्मों की निर्जरा होने पर मोक्षगामी को रागद्वेष-रहित परम पारिणामिक भाव की सम्प्राप्ति होती है जो शुभाशुभ एवं बंध-मोक्ष-परिणतियों से असंसृष्ट है। जीवात्मा का अन्तिम गन्तव्य मोक्ष है, जिसे स्वसमय कहा गया है एवं उसकी अन्तिम भावानुभूति परम-पारिणामिक भाव हैं, जो उसके अपने परिणाम हैं। यह उपलब्धि दृष्टि-भेद से सम्भव होती है। जो आत्मा तथा पुद्गल के भिन्नत्व को उनके पृथक्-पृथक् धर्मानुबंध से जानता है कि आत्मा नित्य है, जड़ से भिन्न है तथा परद्रव्य अनित्य है, उसकी दृष्टि को सम्यक् (समीचीन) कहा गया है। यह सम्यक्त्व यथार्थग्राही और यथास्थित का ज्ञाता है। जब तक रज्जु में सर्प की भ्रान्ति है, इन्दु-ज्योत्स्ना में परिलक्षित शुक्ति में रजत-प्रत्यय है, तब तक वह दृष्टि वह ज्ञान निर्भ्रान्त नहीं। शरीर में आत्मा का एकीभाव भी ऐसी ही भ्रान्ति-मूढ़ता है जिसमें सम्यक्त्व नहीं।

‘णाणाधम्महिं जुदं अप्पाणं तह परं पि णिच्छयदो ।

जं जाणेदि सजोगं तं णाणं भण्णदे समये ।।’

—(कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 253)

‘परदव्वं देहादि कुणइ ममत्तं च जाव तस्सुवरिं ।

परसमयरदो तावं बज्झदि कम्महिं विविहेहिं ।।’

—(तत्त्वसार, 34)

पिंजरा मोह का, तोता परिग्रह का

इस परसमय को लाक्षणिक भाषा में मूर्च्छा कहा गया है। मूर्च्छा विसंज्ञा का नामान्तर है। जिसे संज्ञा नहीं, चेतना नहीं, वह विसंज्ञ है, मूर्च्छित है। यह मूर्च्छा मोहावस्था है। सराग परिणति है। जो जितना परिग्रहानन्दी है, वह उतना ही मूर्च्छित है। प्राचीन काल में वृद्ध नानियाँ बच्चों को किसी एक डायन की कथा सुनाया करती थीं कि उस डायन के प्राण सात समुद्र पार एक महल में पिंजरे में बन्द तोते में है। यदि उस शुक को कोई मार दे तो वह डायन तत्क्षण मर जाएगी। मूर्च्छा भी जीव के साथ लगी हुई एक डायन है जिसके प्राण परिग्रह—रूप शुक में अटके हुए हैं। मोह के दृढ़ पिंजरे में इस परिग्रह—शुक की सुरक्षा की जा रही है। संसारियों के प्राण प्रायः अपने देह में नहीं होते; वे इन्हीं भूमि, हिरण्य परिवार आदि परिग्रहों में होते हैं। ऐसे बहिरात्मा इस देह को ही सर्वस्व मानकर उसकी रक्षा के अचिन्त्य उपाय करते रहते हैं। यह जीव तो मुक्तावस्था से पूर्व तक वैसे ही बँधा हुआ है; किन्तु अज्ञान—विमूढ़ उसको परिग्रहादि में और अधिक बँधकर रखना चाहता है। वह देह की रक्षा के उतने उद्दाम उपाय करता है, जितने कोई काच—पात्र की रक्षा में करता है; परन्तु गिरते ही चकनाचूर हो जाने वाला काच क्या सर्वकाल में सुरक्षित रह सकता है?

“दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः।

मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणादभृशम्॥” —(समाधितन्त्र, 76)

“परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिसु जस्स पुणो।

सो ण विजाणदि समयं सगस्स सब्बागमधरो वि॥” —(भावना, 20)

समय का ज्ञाता तो वह है जिसने ‘नाहं देहः कुतो मृत्युः’ रहस्य को जान लिया है। वह कहता है—मैं मोहरहित हूँ; मेरे उपयोग में आ सके, ऐसा कोई द्रव्य इन आत्मभिन्न पदार्थों में नहीं है। ये सब परभाव हैं—

“णत्थि मम कोवि मोहो, बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।

तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विति॥”

—(समयसार, 36)

रागी को त्याग नहीं रुचता

समयोपयोग का उपशिक्षण करने वाले ये बोधिसूक्त आगम—शास्त्रों की रंगावली हैं शिवपथ के सर्वतोभद्र स्वस्तिक हैं, मुक्तिलक्ष्मी के संचार—कमल हैं; किन्तु क्या इतने पर भी सम्पूर्ण संसार रागपरिग्रह का परित्याग कर सका? क्या इस अनुभव—मथित पीयूष का पान करने में समर्थ हो सका? क्या आज इन मुक्तिसूक्तों की रचना के

पश्चात् बहिरात्माओं का अभाव हो सका? नहीं, क्योंकि गोक्षीर सुलभ होने पर भी लोग मद्यपान करते हैं, अन्न—फल मिलने पर भी अभक्ष्य—भक्षण करते हैं, पुण्य करने की क्षमता रखते हुए भी पापमग्न रहते हैं। समस्त हेय—उपादेय का परिज्ञान रखते हुए उपादेय का तिरस्कार तथा हेय का सत्कार करते हैं, क्योंकि उपदेश सभी को अमृत प्रतीत नहीं होता। रागी को त्याग नहीं रुचता और भोगी को योग विद्या से प्रीति नहीं होती। अपने औदयिक कर्मों के पाश से उन्हें छुटकारा नहीं मिलता। यदि शास्त्र और तीर्थंकर सभी को समान रूप से प्रबोध दे पाते तो आज कुसमयों एवं मिथ्यादृष्टियों का अस्तित्व नहीं रह जाता। अतः आत्मकल्याणाभिलाषी को अपने गन्तव्य की दूरी न्यून करने का प्रयत्न करना उचित है, न कि लोकसुधार के स्तूप खड़े कर अपनी दिशा को भूल जाना*।

आत्मा ज्ञेय है, ज्ञाप्य नहीं

“णाणा जीवा, णाणा कम्मं, णाणाविहा हवे लद्धी।

तद्भा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो।।”

—(नियमसार, 156)

स्वपर समयविज्ञ होकर आत्मानुचिन्तन करना श्रेयस्कर है; परन्तु स्वज्ञान की उस विशिष्ट सम्प्राप्ति को प्रवचन—कोलाहल का रूप दे देना अनावश्यक है। स्व—परसमय का ज्ञान और स्व—पर—समय पर वाद—कोलाहल नितान्त भिन्न वस्तु हैं। एक आत्मकल्याणपरक है तथा अन्य अपरसमयों को बलात् वशीकरण का वृथा प्रयास है। समाधिशतक में यह स्पष्ट कह दिया गया है कि आत्मा ज्ञेय है, स्ववेद्य है, ज्ञाप्य नहीं। अतएव इसे दूसरों को ग्रहण करा सकना अशक्य है—

“यद्बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः।

ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये।।” —(समाधिशतक, 59)

आवश्यकता स्व-सत्य की

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश में जो ‘स्वयमपि निभृतः सन्’ कहा है*

* ‘स्वयं वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यं परम्प्राप्ति विवादो न कर्तव्यः। कस्मात्। विवाद रागद्वेषोत्पत्ति विति ततश्च शुद्धात्मभावना नश्यति। —(जयसेन—तात्पर्यवृत्ति : प्रवचनसार, 278)

❖ ‘विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन, स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं।

हृदयसरसि पुंसः पुद्गलादिभन्नधाम्ना, ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धि।।’

—(समयसार कलश, 34)

उसके मूल में भी यही हार्द है कि भगवान् आदिनाथ और अन्य केवलियों ने आत्मोपलब्धि की—यह इतिहास तो प्राणी ने जान लिया; परन्तु उसके मोक्षविषयक प्रकरण की चर्चा मात्र तो अलं नहीं। इससे तो श्रुतसत्य की तथा परसत्य की जानकारी हुई है, आवश्यकता तो स्वसत्य की है। भर्तृहरि ने जिस स्वानुभूत्यैकमान शान्त तेज को नमन किया है (स्वानुभूत्यैकमानाय नमः शान्ताय तेजसे) —वह तो आत्मना अनुभाव्य है। उस पर विवाद न करना ही परसमयों से बचना है। वही उपलब्धि का मार्ग है। कुसमयों का विशासन करनेवाले जिनेन्द्र भगवान् के शासन से उस अनुपम सुख उपयोग के स्थान को पहचानना चाहिए—

“सिद्धं सिद्धद्वान् ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं।

कुसमयविसासणं सासणं जिणाणं भवजिणाणं ।।” —(सम्मत्तिर्क, 1)

परसमय : अविद्या में निमग्नता

समस्त नयवाद परसमय हैं ब्याख्यान—कोलाहल और स्व—पर—विवाद भी परसमय हैं। स्वचित्स्वभाव की भावना से अन्यत्र परिणमन परसमय है। द्रव्यात्मक एवं गुणात्मक पर्यायी पदार्थों में आत्मबुद्धि रखना परसमय है। द्रव्य और लिंग में ममकार परसमय है। मिथ्यादृष्टि परसमय है। बहिरात्मा और अन्तरात्मा परसमय है। पुद्गल—कर्मप्रदेश स्थित होना परसमय है। अविद्या में निमग्न रहना परसमय है। इन सम्पूर्ण परसमयों से पृथक् शुद्धनिश्चयनय के अंगीकर्ता ही उस समयसार के सारवित् हैं—

“अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचित्त्वं,

ऐकाग्रमेव कलयन्ति सदैव ये ते।

रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः

पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम् ।।” —(समयसार कलश, 120)

“जीवो चरित्तदंसणणाणद्धिदो तं हि ससमयं जाणे।

पोगलकम्मपदेसद्धिदं च तं जाण परसमयं ।।” —(समयसार, 2)

सुख की खोज

समयवेदी को ही कालज्ञ कहते हैं। जो ‘अंगाःकथं वंगाःकथं’ ऐसी परचर्चा में ही समय का अवसान कर देता है वह असमयज्ञ है, अबुध है। कालज्ञ जहाँ कर्मक्षय कर सर्वकालज्ञ (सर्वज्ञ) हो जाता है, वहाँ अकालज्ञ कालकवलित होकर अपने को प्राप्त हुए सुयोग से भी वंचित रह जाता है। समयज्ञ स्व—समय में स्थित होने के लिए व्रत ग्रहण करता है, महाव्रती होता है और अपनी निःसंग—निरवद्यचर्चा से कर्म—कश्मलविमुक्त हो

श्रेयःसनाथ हो जाता है—

“चित्ते कुर्वन्निरवधिसुखज्ञानदृग्वीर्यरूपं,
देव ! त्वां यः समयनियमादादरेण स्तवीति ।।
श्रेयोमार्गं स खलु सुकृती तावता पूरयित्वा ।
कल्याणानां भवति विषयः पंचधा पंचितानाम् ।।”

—(एकीभाव, 24)

अहो ! स्वस्वभाव में स्थित आत्मा ही ज्ञेयप्रमाण ज्ञान को एक समय में जानता है। दर्शन और ज्ञान एक समय में आत्मा के ये ही दो उपयोग हैं। इस स्वस्वभाव में स्थित आत्मा को ही परमात्मभाव की प्राप्ति होती है और उस परम पारिणामिक भाव में इतना अनन्त सुख है जिसे देव—मनुष्य त्रिकाल में भी नहीं पा सकते किन्तु जो परमात्मा को एक समय में प्राप्त है—

“अनन्तगुणितं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजम् ।

एकस्मिन् समये भुङ्क्ते तत् सुखं परमेश्वरः ।।” —(ज्ञानार्णव, 62/68)

स्वसमय में स्थित होना अपार सुखप्रद है। संपूर्ण विश्व सुख की खोज में लगा हुआ है; परंतु सुख क्या वैभव—विलास में है? अथवा क्या वह विषयोपभोग में है? क्या वह स्वादु मिष्ठान्न में है? क्या वह मित्र—कुटुम्बादि में है? यदि यहाँ सुख होता तो आदिनाथ प्रव्रज्य क्यों लेते? नेमिनाथ ऊर्जयन्तगिरि पर क्यों तपते? महावीर गृहस्थ क्यों न हो जाते? कोटि—कोटि भव्यात्मा मुनीश्वरत्व क्यों स्वीकारते? उन्होंने अनुभव किया ‘त्यागात् शान्तिः’—त्याग से शान्ति मिलेगी। ‘वैराग्यमेवाभयम्’—अभय होना है तो वैराग्य लो—चलो, दूर हो जाओ इन परसमयों से। कितने जन्मों तक उठाये फिरोगे इस परिग्रह—भार को? शुद्ध आत्मा पर यह पुद्गल का पाश क्या शोभन है? शान्ति की इच्छा है तो बन्धनों को झटक दो और अपने—आपमें स्थित हो जाओ।

कर्म झर जाते हैं

“छिन्दन् शेषानशेषान्निगलबलकलीस्तैरनन्तस्वभावैः ।

सूक्ष्मत्वाग्रावगाहागुरुलघुकगुणैः क्षायिकैः शोभमानः ।।

अन्यैश्चान्यव्यपोहप्रवणविषयसंप्राप्तिलब्धिप्रभावैः ।

रुद्धव्रज्यास्वभावात् समयमुपगतो धाम्निसंतिष्ठतेऽग्रे ।।”

—(सिद्धभक्ति, 5)

कर्ममलविमुक्त आत्मा कभी अधःपतित नहीं होता। वह स्वभावतः ऊर्ध्वगामी है। अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न है वह। जब क्षायिक गुणों से उसके कर्म झर जाते हैं, तब

वह अविभाज्य पुद्गल परमाणु के मंदगति से एक प्रदेश संक्रमण काल परिणामस्वरूप एक समय में ऊर्ध्वगमन कर लोकाकाश के अग्रभाग में स्थित होता है। धर्मास्तिकाय का अभाव होने से उससे ऊपर सिद्धात्माओं का गमन नहीं होता—

“अवरोधविनिर्मुक्तं लोकाग्रं समये प्रभुः ।

धर्माभावे ततोऽप्यूर्ध्वगमनं नानुमीयते ।।” —(ज्ञानार्णव, 42/60)

अनादिकाल से आत्मा पर परपदार्थों का भार है। यह भार गुरुतर होता जाता है। जितना गुरुतर यह होता जाता है उतना नीचे दबता जाता है। चतुर्गति—परिभ्रमण इसी भार के गुरु—लघु होने का परिणाम है। यद्यपि मूलतः आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्व—गतिशील है जैसा कि ‘ऊर्ध्वं ब्रज्यास्वभावात्’ इस सिद्धभक्ति—पद में वर्णन किया गया है तथापि कर्मजुष्ट होने से पुद्गल भारायमाण यह जीवात्मा उस आत्मधर्म को सर्वथा प्राप्त नहीं कर पाता। देखा जाए तो पुद्गलावच्छिन्न होने से इसे नाना भवक्लेश भुगतने पड़ते हैं। बहुत पीटा गया है यह। जैसे डाक में छोड़े गये पत्र पर मुद्रा लगानेवाला कर्मचारी ठोक कर डाकघर की मुहर लगाता है और उसे संकेतित गली—घर—गाँव पहुँचाता है, वैसे ही परभाव के समाचारों को वहन करनेवाले आत्मा को कर्म ठोक—पीटकर यहाँ—वहाँ पहुँचा रहे हैं। कर्म वाचक होकर इस पर लिखे हुए परपरिणामों को पढ़ते रहते हैं। जब तक यह पत्र अपने ऊपर अंकित इस पराश्रयी कृष्णमयी के अभिलेखों से मुक्त नहीं हो जाता, तब तक इसी प्रकार किसी नर, सुर, तिर्यक् नाम—पते पर पहुँचता रहेगा और अनेक डाकघरों की अनेक मुहरें इसके मुख पर लगती रहेंगी। संसार—परिभ्रमण की इस कथा को योगसार में बहिरात्मा का धर्म कहा है—

“मिच्छादंसणमोहियउ परु अप्पा ण मुणेइ ।

सो बहिरप्पा जिण भणिउ पुण संसार भमेइ ।।” —(योगसार, 7)

आत्मा कैसा है

जब मनुष्य ज्ञानावरण से मोहमूढ़ होता है तब असत् में सत्—प्रतीति करने लगता है। ‘श्रावणान्धो हरितं पश्यति’—एक व्यक्ति श्रावण में अन्धा हो गया। उस समय पृथ्वी हरी—भरी थी। कालान्तर में जब हरितसस्य सूख गये तब भी ‘पृथ्वी कैसी है’—पूछ जाने पर वह उसे हरित ही बताता था। मिथ्याज्ञान से दिङ्मूढ़ों की भी यही स्थिति है। उसे पूछा जाए कि आत्मा कैसा है तो वह उसे शरीर—निरूपण द्वारा बताएगा। उपनिषदों में इसी बहिरात्मा का प्रतीकाख्यान विरोचन असुर के माध्यम से आया है। इन्द्र और विरोचन प्रजापति की सेवा में ज्ञानार्थ उपस्थित हुए। प्रजापति ने उपदेश किया कि जल में देखने पर तुम्हें आत्मा दिखायी देगा। दोनों लौट आये। मार्ग में इन्द्र

ने अपना बिम्ब किसी जलाशय में देखा और यह तो नाशवान् है, विकारी है—कदाचित् आँख, नाक, कान से विहीन, विद्रूप हो सकता है अतः यह बिम्ब (यह देह) आत्मा नहीं हो सकता—यह सोचकर देवराज पुनः आत्मज्ञानार्थ प्रजापति के पास लौट गये, परन्तु विरोचन असुर ने जब जल में अपना प्रतिबिम्ब देखा तो 'यह शरीर ही आत्मा है' ऐसा प्रजापति ने कहा है, मान लिया। वह प्रसन्न भाव से अपने सजातीय असुरों में पहुँचा और 'शरीर ही आत्मा है' यह प्रजापति का उपदेश उन्हें बता दिया। इस प्रकार जिज्ञासावृत्ति के अभाव में असुरों ने शरीर को आत्मा मान लिया। वे आज भी मरणोपरान्त शरीर—रक्षण करते हैं और जीवित अवस्था में 'खाओ, पियो, मौज करो' इन तीन भौतिक सूत्रों का अनुवर्तन करते हैं। उन भौतिकवादियों की आसुरी प्रकृति का प्रकोप युद्ध, हिंसा, वैर, कलह, उन्माद, विभीषिका इत्यादि लोकपीडक विविध रूपों में रात्रिन्दिव व्यक्त हो रहा है, होता रहा है। तन्दुलमत्स्य उसी आसुरी प्रकृति का प्रतीक है। सम्पूर्ण संसार को निगलने का पापचिन्तन दारुण आसुरीभावों की देन है क्योंकि ऐसे लोग भूतवादी होने से भौतिकद्रव्यों पर स्वत्वकामना रखते हैं। इष्टोपदेश में इसी आशय को सुव्यक्त करते हुए कहा गया है कि यदि कर्म प्रबल हैं, तो वे अपने हित का (अधिकाधिक कर्मसंचय का) प्रयत्न करेंगे और यदि जीव बलवत्तर है, तो वह स्वहित की स्पृहा करेगा, क्योंकि सभी अपने स्वार्थ का पोषण करते देखे जाते हैं—

“कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।

स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वाञ्छति।।” —(इष्टोपदेश, 31)

इन देहात्मक दृष्टियों को यह जगत् ही एक मात्र रमणीय और विश्वास—स्थान प्रतीत होता है और इसी के लिए वे रात्रिन्दिव युद्ध और अधिकार की घोषणा करते हैं। 'जगद् देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च' —समाधिशतक 49।

आत्मलाभ परम लाभ

मृत्यु के तत्काल पश्चात् जहाँ शरीर विकृत, गलित, दुर्गन्धित होना आरम्भ कर देता है जिसे जल—प्रवाहित करने, काकादि के भक्षणार्थ अनावृत प्रदेश में छोड़ देने अथवा अग्निसमर्पित करने से अन्यत्र कोई उपाय नहीं है उसे भी ये देहवादी अनन्त काल पर्यन्त सुरक्षित रखने के लिए यत्नशील देखे जाते हैं; मानो, इसी पृथ्वी पर उनका मरणोत्तर अस्तित्व बनाये रखना चाहते हों। यह अज्ञानोपासना है। भारतीय मनीषियों का चिन्तन इससे भिन्न ही नहीं, विशिष्ट भी है। वे देहत्याग से पूर्व ही यह भावना रखते हैं कि “यह शरीर मिट्टी है, इसके द्वारा कृत—सुकृत ही प्रयोजनीय है, “अथ भस्मान्तं शरीरम्। कृतं स्मर”। जगद्व्यापार को वे इन्द्रजाल समझते हैं। आत्मलाभ

को परम लाभ मानते हैं तथा अन्यत्र परिणति होने पर अनुताप का अनुभव करते हैं। उपनिषदों में वर्णित नचिकेता एक बालक है और आत्मज्ञान के लिए यम से जिज्ञासा करता है। यम द्वारा लौकिक प्रलोभन के वरदान लेने का आग्रह करने पर वह कहता है—

मुझे वही चाहिये

“श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।

अपि सर्व जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥”

—(कठोपनिषद्, 1/1/26)

हे यमराज ! ये वैभव भोग अनित्य हैं। आज हैं, कल नहीं। ये सम्पूर्ण इन्द्रियों को तेजोहरण कर लेते हैं और मनुष्य को जीर्ण कर देते हैं। यह जीवन भी अल्प है, अतः सांसारिक प्रलोभन, ये स्थ-गज-वाजि और ये नृत्य-गीत आप अपने पास रखें। आगे नचिकेता ने कहा—‘वरस्तु मे वरणीयः स एव’ मुझे तो वही (आत्मप्राप्ति विषयक) वरदान चाहिए।

यह असाधारण कथा है। भारतीय बालक भी तत्त्व-जिज्ञासा रखता है, उसके लिए मृत्यु के द्वार पर निर्भय होकर चला जाता है और भौतिक प्रलोभन दिये जाने पर अनुतप्त होकर कहता है—‘इन भोगविभ्रमों को अपने पास रखो।’

लहसुन का खेत, कपूर की बाड़

“निशामयति निःशेषमिन्द्रजालोपमं जगत्।

स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते॥” —(इष्टोपदेश, 39)

परन्तु जिनके दुष्कर्मों का अन्त नहीं, उन्हें बारंबार यह संसार ही सार प्रतीत होता है। वे आत्मा की उपेक्षा और शरीर-सुखों की अपेक्षा रखते हैं। मानो, अमूल्य मणि का विस्मरण कर काच पर रति करते हैं, लहसुन के खेत को कपूर की बाड़ (वृत्ति) लगाते हैं। बदरी फल के लिए आम्रवन का उच्छेद करते हैं।

अन्यथा दर्शन

“तादात्म्यं तनुभिः सदानुभवं पाकस्य दुष्कर्मणो,

व्यापारः समयं प्रति प्रकृतिभिर्गाढं स्वयं बन्धनम्।

निद्रा विश्रमणं मृतेः प्रतिभयं शश्वन्मृतिश्च ध्रुवं,

जन्मिन् ! जन्मनि ते तथापि रमसे तत्रैव चित्रं महत्॥”

—(आत्मानुशासन 58)

आचार्य ने कितना साधु प्रबोध दिया ! इन शरीरों के साथ किस अनन्यता से लोग

संश्लिष्ट हो रहे हैं। यह शरीर बार—बार उन्हें छोड़ रहा है और कर्मबद्ध जीव रो—रोकर उसके वियोग में आतुर हो रहा है, उसे पुनः पुनः आमंत्रण दे रहा है। रोग, जरा और आयुःक्षय पीड़ित कर रहे हैं तथापि माधुर्यमिश्रित इन विष—गुटिकाओं का आस्वादन करने के लिए जीव लालायित हो रहा है। अहो ! इस मोह का, अज्ञान का अन्त नहीं। उन्हें आस्रवों का आना रुचिकर लगता है। कषायों की तीव्रता से प्रसन्नता होती है। संवर के पाठ और निर्जरा के अध्याय मिथ्या भासित होते हैं। आगमस्वाध्याय, देवदर्शन, साधुसंगति अप्रयोजनीय लगती है; क्योंकि सर्पदष्ट को निम्ब का कटुकत्व भी मधुर लगता है और पाण्डुरोगी को श्वेत पुष्प भी पीत प्रतीत होता है। जिन्हें सम्यक्दृष्टि नहीं है वे वस्तु के स्वरूप का अन्यथा दर्शन करते हैं। वे परसमय को स्वसमय और स्वसमय को परसमय समझते हैं। स्वयं शीर्षासन किये हुए हैं और दूसरों को उल्टा टंका हुआ बताते हैं। 'धिग् व्यापकं तमः'।

स्व-समय : आँख की आँख

जीवन का सार समय है और समय का सार स्वसमय। वाणी का उपयोग समय का व्याख्यान है, श्रोत्र की सफलता समय—विषयक श्रुति है, नेत्रों का दृष्टिमत्त्व समय का सम्यग्दर्शन है। वह प्राणों का प्राण है, हृदय का हृदय है, चक्षु का चक्षु है, नरकान्धकूप—पतन से निवारण करनेवाला है, स्वर्ग के लिए मणि—सोपान है और निर्वाण—वीथि का दीपक है। सामायिक उसी का ध्यान है, उसी की अन्तःस्थिति से, अनुचिन्तन और चर्वण से सामायिक सामायिक है। प्रमाद, मूर्च्छा, विभावपरिणति, कर्मस्नेह इत्यादि महारोगों की वह महौषध है। अनादि कर्मों की महाशृंखला को तोड़ने में महागज, दिग्भ्रम से संसार—कान्तार में भटकने वालों को रत्नदीप और मूर्च्छितों का संजीवन यह स्वसमय है। जो समय का चिन्तन करने के लिए सामायिक—मग्न रहता है तथा प्रतिक्षण सामायिक करते हुए समयनिष्ठ रहता है; वह स्वसमय को प्राप्त करता है। समय में स्थिति करना ही तो सामायिक है। यह स्वसमय विषापहार स्तोत्र है, कल्याणमंदिर है, यही महावीराष्टक है, स्वयम्भूस्तोत्र है। स्तुति, स्तवनीय तथा स्तोता समय ही है। समय ही समय की सहायता से समय में स्थित हो रहा है। ऐसा यह समय स्वद्रव्य आत्मा ही है।

स्वात्मयोग मोक्ष

वाद, शास्त्रार्थ, तर्क, युक्ति तथा स्थापनाक्षरों में समय नहीं है, वह तो लब्धि—अक्षरों में है। जैसे नदी के उस पार पहुँचने के लिए नौका का आश्रय लिया जाता है।

वहाँ पहुँचकर नौका को कोई नहीं पूछता, कोई उसे मस्तक पर उठा कर नहीं घूमता; जैसे शास्त्रों के स्थापनात्मक अक्षर हैं। इनमें भेदविज्ञान का परिज्ञान प्रयोजनीय है। वे अक्षर, अध्याय, श्लोक—संख्या लब्धिवेदी से नीचे ही रह जाते हैं। जैसे ‘दण्डी पुरुषः’ में दण्ड पुरुष का स्वलक्षण नहीं है, जैसे समयसार के लिए ग्रन्थसमयसार स्वलक्षण नहीं है। उसका स्वलक्षण तो उपयोग है, चित् स्वभाव है। वहाँ अन्ययोग बन्धन हैं, स्वात्मयोग मोक्ष है—

“चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम् ।

बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ।।”

—(समयसार कलश, 92)

पर तो पर ही है

यदि नरकादि बन्ध अभीप्सित है, तो बहिरात्मा रहो। यदि च स्वर्ग—सुखों में रति है तो अन्तरात्मा बनो; किन्तु यदि अनन्त सुख की अभिलाषा है, तो परमात्मतत्त्व में लक्ष्य रखो। सम्पूर्ण प्राप्तियों का परम प्राप्य बोधिलाभ है, लब्धि—सुख है। पर तो पर ही है। उस परत्व की अनुभूति शत वर्ष पश्चात् तो सभी को प्रायः होती देखी जाती है, इससे पूर्व हो जाए तो उससे लाभ उठाया जा सकता है। यह मनुष्य—भव इस सिद्धि में सहायक है। ध्यान, धारणा, समाधि द्वारा मानव ही उस स्वात्मपरिणाम को प्राप्त कर सकता है। यदि इस भव में भी स्खलित हो गये, चूक गये, तो फिर गये पतन के पारावार में जहाँ से ढूँढ़ निकालना अति दुष्कर है।

उसका जन्म व्यर्थ हुआ

“परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम् ।

अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ।।”

“इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखण्डकम् ।

ध्यानेन चेदुभौ लभ्ये क्वाद्वियन्तां विवेकिनः ।।”

—(इष्टोपदेश, 45 एवं 20)

यदि काच और चिन्तामणि श्रम के पुरस्कार हैं तो कौन ऐसा विवेक—विधुर होगा जो श्रम भी करे और काच लेना चाहे। चिन्तामणि की तुलना में काच की गणना ही क्या? मनुष्य—भव प्राप्त कर यदि विषयादि काच—खण्डों को ही संगृहीत करते रहे तथा आत्म—चिन्तामणि की प्राप्ति की चिन्ता नहीं की, समय को नहीं पाया तो निरर्थक जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं किल भानुबिम्बम् उस कमलिनी का जन्म व्यर्थ ही गया

जिसने कभी सूर्य को नहीं देखा। और सर्वज्ञ भगवान् के समय को जिसने नहीं सुना
उस मनुष्य का जन्म भी व्यर्थ ही गया—

“मानुष्यं विफलं वदन्ति हृदयं व्यर्थं वृथा श्रोत्रयो,
निर्माणं गुणदोषभेदकलनां तेषामसम्भाविनीम् ।
दुर्वारं नरकान्धकूपपतनं मुक्तिं बुधा दुर्लभां,
सार्वज्ञः समयो दयारसमयो येषां न कर्णातिथिः ॥”

—(सूक्ति मुक्तावली, 18)

राजमार्ग से चलो

अतः नय की लघु वीथियों से नहीं, शुद्ध निश्चय के राजमार्ग से चलो। नित्य शुद्ध
क्षायिक दृष्टि रखो, अपने में ही तन्मय रहो। परमात्मा भी व्यवहारनय से सर्वज्ञ हैं,
निश्चयनय से तो आत्मज्ञ ही हैं। उस आत्मज्ञान की प्राप्ति में जितनी दूरी है, उसे
पुरुषार्थ द्वारा समाप्त करो। नयों की नदियों में तैर चुके, अब शुद्ध निश्चय के समुद्र
में अवगाहन करो। निर्वाण पाना है तो स्वभाव में स्थित होकर अपने को जानो, अपने
को देखो, अपने से प्रेम करो। केवली भगवान् ने वह मार्ग दिखाया है, मुनियों और
ज्ञानियों ने उस पथ का अनुसरण किया है, गणधर देवों ने उसका आगमिक निरूपण
किया है; उस पर चलो। बोधिलाभ के लिए देव, गुरु, शास्त्र के भक्त रहो, संसार-भोगों
पर हेय दृष्टि धारण करो और रत्नत्रयसंयुक्त महाव्रती बनो। देखो, शिवसुख तुम्हारे
समीप है, तुम्हारी अपनी आत्मा में उसकी विद्यमानता प्रतीत हो रही है—

“परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तस्मिं हिंदा सहावे मुणिणो पावन्ति णिव्वाणं ॥”

—(समयसार, 151)

“देवगुरु समयभत्ता संसारसरीरभोगपरिचत्ता ।

रयणत्तयसंजुत्ता ते मणुव सिवसुहं पत्ता* ॥” —(रयणसार, 9)

महाकवि रत्नाकर ने पुद्गल और आत्मा के भिन्नत्व का प्रतिपादन करते हुए
वर्णन किया है कि ‘शब्दोच्चारण, जिह्वा-दन्त-ओष्ठ आदि उसके साधन, श्रोत्र तथा

* ‘समयं यदि जानीते श्रेयोज्ञाता ध्रुवं भवति’ —(रत्नकरण्ड श्रावकाचार 5/27) यदि
समयं आगमं जानीते आगमज्ञो यदि भवति तदा ध्रुवं निश्चयेन श्रेयोज्ञाता उत्कृष्ट ज्ञाता
स भवति । —यदि आगम में विज्ञता प्राप्त करता है तो वह विज्ञ निश्चयेन श्रेय का
ज्ञाता होता है ।

स्नेह—कोप और यह देह सब पुद्गल हैं। चिदम्बर पुरुष इनसे भिन्न हैं।

परमात्मरूप की शरण

“नुडिवुदु पुद्गल केळुवदु पुद्गल,
कडेगे पुद्गल स्नेहकोपा।
जडदेहनं कि नन्नेदेयोळिरय्या,
बानोला चिदम्बरपुरुष ॥” —(रत्नाकर, 99)

हे सर्वज्ञ देव! शुद्धचिन्मय परमात्मन्! अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य को प्राप्त करने का साधन आपने स्वानुभूति से स्वसमय को बताया है। हे वीतराग! आपका निरूपित — प्रज्ञापित सत्य त्रिकालाबाधित प्रमाण है। हे प्रभो ! गति के लिए मार्ग चाहिए, मार्ग को प्रशस्त करने के लिए नेता चाहिए और उसका मार्गदर्शन भ्रम—मुक्त होना चाहिए। कदाचित् मार्गदर्शक स्वयं ही पथ—भ्रान्त हो तो अनुगामियों को भी संकटों एवं बाधाओं का साम्मुख्य करना पड़ेगा, अतः जिस किसी को अग्रगामी नहीं माना जा सकता। आपके मार्ग पर मेरी सुश्रद्धा है; क्योंकि आपको तीर्थकर होने का लोभ नहीं, कहीं किसी से राग नहीं, द्वेष नहीं। आपके निर्मल आत्मस्वरूप को छत्र, चामर, अष्टसिद्धि तथा नवनिधियों की अपेक्षा नहीं। वह यथाजात सुन्दर है, लब्धिरमणीय है। उसकी चारु आभा ने सूर्यादि के तेज को अधरित कर दिया है। आपका मार्गदर्शन निश्चयेन निर्भ्रान्त है, शिवपुरप्रापक है।* आप ही आप्त हैं, सम्पूर्ण प्राप्यों को प्राप्त कर चुके हैं। अब कुछ भी पाना आपके लिए शेष नहीं। आप ही समय हैं, स्वसमय हैं, परमात्मा हैं। ‘अन्यो न मम शरणं, शरणं स एव परमात्मा’ —इस भावना के साथ मैं अपने आत्मा के अनन्तशक्तिपुंजस्वरूप परमात्मरूप की शरण ग्रहण करता हूँ—

“अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै—
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्,
न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ॥” —(समयसार कलश, 244)

* हे प्रभो ! जिनेन्द्रदेव ! वह रागादिदोष मुक्त सकल और निकल परमात्मा जिन, अर्हन् और सिद्ध आप ही हैं। आप ही गम्भीर—अगाध **समयामृत**—सागर हैं। रागरहित प्ररूपणा करने से आप ही सत्यमार्गोपदेष्टा हैं। कौन ऐसा सज्जन होगा जो यह जानकर भी रागपरामृष्ट इतर देवों की मान्यता मानेगा?

“दिष्टे तुमम्भि जिणवर! समयामयसायरे गहीरंभि ।
रायादिदोसकलसे देवे को मण्णइ सयाणो ।।”

—(पद्मनन्दिपंचविंशतिका, 14/14)

मर्मच्छेदकारी दिव्यायुध

रसाल फल को प्राप्त करने के लिए आम्रवन में जाना होगा, चम्पा की सुवास उसके पुष्प में है कण्टकों में नहीं, पाटल (गुलाब) के शूल स्पर्श करनेवालों को उलझा देते हैं परन्तु सुरभि नहीं दे पाते। मृगनाभि का सौरभ यदि घास में होता तो हरिण को अन्वेषण करने पर मिल जाता। वास्तव में भ्रम के वशीभूत होकर अन्धवत् इतस्ततः पर्यटन करने से निर्भ्रान्त सत्य की अवाप्ति नहीं होती। सत्य तो सत्य में ही मिलेगा। तैल की प्राप्ति चाहनेवाला तुष नहीं कूटता; क्योंकि तुष और मुसल तैल—प्राप्ति में न निमित्त हैं, न उपादान। अतः समय की अपेक्षा रखनेवाले समय—भिन्न द्रव्यों में तत्पर नहीं होते। उनका प्रयत्न अनिष्ट—निवृत्ति और इष्ट—सम्प्राप्ति के लिए अहर्निश प्रक्रान्त रहता है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र रूप त्रिशूल ही वह दिव्यायुध है जो आत्मा का परमास्त्र है और परद्रव्यों का मर्मच्छेदकारी है। यह समाधि—मित्र है, इष्टयोजक है और अनिष्टवियोजक भी है। आचार्य समन्तभद्र जब ‘स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम्’ — कहते हुए आदिजिनेश्वर के निर्मल स्वरूप का व्याख्यान करते हैं तब उनका आशय भगवान् के उसी आत्मस्वभाव से है, जिसमें कर्मकश्मलदहन का सर्वातिशायी सामर्थ्य है और जिसको उद्देश्य कर ‘ध्यानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते’ कहा गया है। ये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र आत्मा के त्रिभंग हैं उसके उपयोग—विवर्त हैं। स्व—रूप इनका आराध्य एवं समीक्ष्य है। इस स्वरूपावस्थान नित्यता से विभाव रूपों में उपेक्षा एवं अनासक्ति आती है और अकिंचन परभाव आत्मा की इस स्वरूपस्थिति रूप उपेक्षा से ही म्लान, शीर्ण और मृत हो जाते हैं। आस्रवनिरोध का तथा कर्मनिर्जरा का यह अद्भुत प्रकार है कि जैसे—जैसे साधक स्व—भाव को उज्जीवित करता है, उसके परभाव स्वयं समाप्त—मृत होते जाते हैं। यह बुद्धिमानों का मार्ग है जिसमें चलते हुए वे इष्टानिष्ट संयोगवियोगता को एकक्रिया द्वारा निष्पन्न करते हुए शोभा पाते हैं। उनकी ‘एकक्रिया द्वयर्थकरी प्रसिद्धा’ एक ही क्रिया दो प्रयोजनों की साधिका होती है। जैसे भुक्त अन्न क्षुधा—निवृत्ति करता है और तृप्तिकारक भी होता है, वैसे स्व—समय में स्थितिबन्ध परसमय—निवर्तन में भी प्रभविष्णु होता है, इससे आस्रव स्वतः खण्डित हो जाते हैं।

“सम्यग्दर्शनं णाणं चारितं सुद्धात्मनं।

स्वस्वरूपं च आराध्यं त्रिभंगीसमयखंडनं।।” —(त्रिभंगीसार, 248)

इसी निर्विकल्प आत्मोपयोग को ‘साक्षात्समयसार’ निर्दिष्ट करते हुए समयसार—टीका (गाथा 142) में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—‘सकलविकल्पातिक्रान्तः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः सम्भवति।’

अर्थात् जीव को कर्मबन्ध हुआ है अथवा नहीं हुआ है, यह कहना तो विकल्पगोष्ठी के मित्र नयपक्ष का पक्ष है वस्तुतः निश्चय में तो नयों का प्रवेश अविहित है। निम्न गाथा में इसी नयातिक्रान्त निश्चयरूढ़ साक्षात्समयसार का सारोपदेश है—

“कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाणं णयपक्खं।

णयपक्खातिकंतो भण्णदि जो सो समयसारो।।”

—(समयसार, 142)

कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध

‘आत्मनः शुद्धभावेन गलत्येत् पुराकृतम्’ —(जम्बूस्वामिचरित 13/127) आत्मा के शुद्ध भाव से पूर्वकृत आस्रव गल जाते हैं—यह कहना वैसा ही है जैसा वसन्त-आगमन से वृक्षों पर नवीन पल्लव आविर्भूत हो जाते हैं। नवीन पत्र आने से पूर्व जीर्ण पत्र क्षय स्वयं हो जाता है। अपना उपयोग मोक्ष की ओर लगाओ, बन्ध विगलित होते जाएंगे। जब एक व्यक्ति पूर्व की ओर अभिमुख होकर यात्रा करता है तब उससे पश्चिम स्वतः दूर-दूरतर होता जाता है। उसे पूर्व की निकटता के लिए जो यत्न करना पड़ता है वही उसे पश्चिम से अत्यंत दूर ले जाता है। जब दधिमन्थन की एक रज्जु पीछे खिंचती है तब दूसरे हाथ की रज्जु स्वयं आगे हो जाती है। ‘कारणविगमतः कार्यनाशप्रसिद्धिः’ कारण का नाश होने पर कार्यनाश अवश्य हो जाता है, यह प्रसिद्ध न्याय है। भावसंवर और भावनिर्जरा को समझाते हुए अध्यात्मकमलमार्तण्ड में बताया गया है कि ‘भावसंवर-निरोध भावसंवर है तथा आत्मा और शरीर के भेदज्ञान से सम्पद्यमान स्वोपलब्धि भाव-निर्जरा है। संचित और आगामी बन्धकारणभूत कर्म का अभाव होने पर संसार का अभाव स्वतः हो जाएगा। यही कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध न्याय है—

“त्यागो भावास्रवाणां जिनवरगदितः संवरो भावसंज्ञो,

भेदज्ञानाच्च स स्यात् स्वसमयवपुस्तारतम्यः कथंचित्।

सा शुद्धात्मोपलब्धिः स्वसमयवपुषो निर्जरा भावसंज्ञा,

नाम्ना भेदोऽनयोः स्यात् कारणविगमतः कार्यनाशप्रसिद्धेः।।”

—(अध्यात्मकमलमार्तण्ड, 9)

“येनांशेन कषायाणां निग्रहः स्यात् सुदृष्टिनाम् ।
तेनांशेन प्रयुज्येत संवरो भावसंज्ञकः ॥
आत्मनः शुद्धभावेन गलत्येतत् पुराकृतम् ।
वेगाद् भुक्तरसं कर्म सा भवेद् भावनिर्जरा ॥”

—(जम्बूस्वामिचरित, 13/123, 127)

विषयों की शिविका उठाये चलता है

चतुष्पथ पर खड़ा राजपुरुष हाथ के संकेत के मार्ग बताता है तथा रोकता भी है। आगमशास्त्र हेय और उपादेय के दो हाथ उठाकर असन्मार्ग से रोकते भी हैं तथा सन्मार्ग पर चलने की अनुमति भी देते हैं। उन्होंने परसमयों की रति का परिणाम और स्वसमय निष्ठा का उदरक निःसंगभाव से समझाने का सहस्रमुखी सुयत्न किया है। चिक्कणता में मलिनता आती है और रूक्षता (साबुन आदि) से वह दूर हो जाती है, यह जानकर बुद्धिमान निःस्नेह होने का प्रयत्न करता है और रागाशयी स्वयं मालिन्य को आमंत्रित करता है। बालक अज्ञानवश मिट्टी खाता है और मन्द बुद्धि इन मिट्टी समान अशुभ आस्रवों में स्वादुता का अनुभव कर अतिकठिन बन्धनों को पुकार-पुकार कर अपना आरोहण देता है। विषयों की शिविका को कन्धे पर उठाये चलता है, राग की नगरी में फेरी लगाता है। यह बन्धहेतु है। मिथ्यात्व का संग्रह एक दिन उसे ले डूबता है, आस्रवों के योजनमुख नक्र उसे उदरस्थ कर लेते हैं। उस दिङ्मूढ़ को प्रति समय नये-नये कर्म अतिथि होते रहते हैं। वह बन्धन-शृंखलाओं को अलंकार समझ धारण करता रहता है और अपनी इस दयनीय अवस्था को अभिमान के साथ वैभव कहकर व्यक्त करता है। विभावों को वैभव मानने वालों का व्यामोह क्या हास्यास्पद नहीं है? आत्मा को दीन बनाकर पुद्गल को पीन बनाने वाले त्यागवृत्ति के कोपीन को सदा हीन समझते आये हैं। पिंजरे का पक्षी उन्मुक्त गगन में संचार करनेवाले विहंगम की अनगारता पर उपहास के स्वर उठाता है। अपनी विपन्नता को सम्पन्नता और अपने रोग को भोग कहता है—

“मिथ्यात्वाद्यात्मभावाः प्रथम समय एवास्रवे हेतवः स्युः ।
पश्चात्तत्कर्मबन्धं प्रतिसमसमये तौ भवेतां कथंचित् ॥
नव्यानां कर्मणामागमनमिति तदात्वे हि नाम्नास्रवः स्यात् ।
आयत्यां स्यात् सम्बन्धःस्थितिमितिलयपर्यन्तमेषोऽनयोर्मित् ॥”

—(अध्यात्मकमलमार्तण्ड, 4/4)

हे जीवात्मन्! अनादिकाल से आस्रवों के साथ घनिष्ठ मित्रभाव रहा है तुम्हारा।

इनके छन्द आपात रमणीय हैं, ऊपरी दृष्टि से देखने वाले बहिरात्माओं को वे बहुत प्रिय लगते हैं; परन्तु बहिर्मनोरम होने मात्र से उसका अन्तःप्रच्छन्न विष अमृतपरिणामी नहीं हो जाता। वैसे धतूरे का पुष्प भी तो सुन्दर पीत वर्ण होता है और अपने सुवर्ण (सुन्दर वर्ण) के कारण कनक पुष्प कहा जाता है; परन्तु क्या रूप—सादृश्य से उसमें गुणसाम्य भी संभव हुआ है? एतावता स्वच्छन्द रमणीय प्रतीति में एक अन्य हेतु भी है; वह यह कि जब कोई किसी के प्रथम सम्पर्क में आता है तब उसका कटुकत्व अथवा मधुरत्व जितना स्पष्ट प्रतीत होता है उतना वेलान्तर में नहीं होता। प्रथम बार प्रकाश से अन्धकाराच्छन्न प्रकोष्ठ में प्रवेश करने पर वह तिमिर अतिसान्द्र प्रतीत होता है। परन्तु कुछ क्षण के पश्चात् नेत्र उस अन्धकार में भी कुछ देख पाने में समर्थ हो उठते हैं, इस प्रकार प्रथम दृष्टि में जो अमित्रवत् था वही तिमिर इतर क्षणों में मित्रवत् हो जाता है और उसमें प्रथम क्षण जैसी तीक्ष्ण विरोधानुभूति नहीं रह जाती। आस्रवों का मित्रत्व भी कुछ ऐसा ही है। अनादिकाल से मृग—सिंह के समान इनका सहचारित्व रहा है। जैसे मृग और सिंह का अन्योन्य सम्बन्ध भक्ष्य—भक्षक—भावपरक है। जैसे मृग और सिंह का अन्योन्य सम्बन्ध भक्ष्य—भक्षक—भावपरक है तथापि दोनों एक ही वन—प्रदेश में निवास करते हैं और समय—कुसमय पाकर सिंह हरिण का आखेट करता रहता है, वैसे ही जीव और आस्रवों का सम्बन्ध है। आस्रवों के अनादि आक्रमणों ने जीवन को जर्जर कर दिया है। यह जीव जहाँ जाता है, आस्रव पक्व फल के समान उसमें लोभ उत्पन्न करने वहीं पहुँच जाते हैं। जैसे—जैसे यह जीव इन फलों का आस्वाद करता है उनके विषाक्त परिणाम का लक्ष्य बन जाता है। चिरकाल का सामीप्य अनुभव करते रहने से जीव इतना अधिक प्रमत्त अथवा असावधान हो उठा है कि वह आस्रवों के दुःख जनकत्व को लक्ष्य नहीं कर पाता। वह उन्हें सहज स्नेह से ग्रहण करता है और नाना व्याधियों का पात्र बन जाता है।

यहाँ चुम्बक—लौह का दृष्टान्त उपयोगी रहेगा। चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचता है क्योंकि वह उसका सजातीय है; परन्तु आश्चर्य होता है कि पुद्गल जीव को अपनी ओर खींचते हैं। आश्चर्य इसलिए कि पुद्गल जीव के सजातीय नहीं हैं। इस दृष्टि—विमर्श से कहना होगा कि पुद्गल चुम्बक से अधिक संक्रमणशील हैं। एतावता जीव जब पुद्गल प्रदेशों में रतिभाव करता है तब मलिन परिणामों को ही प्राप्त करता है। यह उसका कुसंगति—समुत्पन्न दोष है। इस कुसंगति का सदोष प्रभाव कभी—कभी इतना बढ़ जाता है कि जीव अपनी भिन्नता को विस्मृत कर बैठता है, उसे अपना जातिस्मरण भी नहीं रह पाता।

एक कथा है कि कोई सिंहशिशु मातृवियुक्त होकर किसी शृगाली के शावकों के साथ रहने लगा और उस शृगाली को ही जननी मानकर उसका स्तन्य पीने लगा। कालान्तर में एक समय जब वह अपने कल्पित बन्धुओं के साथ किसी जलाशय में पानी पी रहा था, तब उसने अपना प्रतिबिम्ब देखा और भिन्नता का स्वतः बोध प्राप्त किया कि मैं शृगाल नहीं हूँ सिंह हूँ। यह भेद-प्रतीति होते ही उसने हुंकार किया। उस सिंह-गर्जना को सुनकर सम्पूर्ण वनप्रान्तर स्तब्ध हो गया। ऐसी ही कुछ, विजातीय में साजात्य-अनुभूति इस जीव को हो जाती है जब यह परभावों की अभेद्यस्निग्धता में अपना एकीभाव अनुभव करने लगता है। 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' में इस अवस्था को मोहस्थिति कहा है। यह मोह संसार-वृक्ष को सिंचित करता है, उसे हरा रखता है, सूखने नहीं देता। यह तत्त्वज्ञान का विलोपक तथा सम्यग्दर्शनादि से च्युत करनेवाला है; कि बहुना, सम्पूर्ण अनर्थों का प्रसविता पिता है।

सम्यक्त्व-सूर्योदय

“मोहः सन्तानवर्ती भववनजलदो द्रव्यकर्माघहेतु-
स्तत्त्वज्ञानघनमूर्तिर्वमनमिव खलु श्रद्धधानं न तत्त्वे।
मोहमोक्षप्रयुक्ता दृगवमयुतात् सच्चरित्राच्युतिश्च,
गच्छत्वध्यात्मकंजद्युमणिपरपरिख्यापनान्मेचितोऽस्तम्।।”

यह मोह मेचितभाव है, अन्धकार है। अध्यात्म सूर्योदय से इसका अस्तमन होता है। अन्धकार में भेद-प्रतीति का विलोप होना सहज है। किसी प्रकोष्ठ में अनेक वस्तुएँ रखी हैं, किन्तु अन्धकार में वे दृष्टिगोचर नहीं होतीं। इतना ही नहीं, वे भिन्न-भिन्न भी प्रतीत नहीं होतीं। प्रकाश में उन्हें पृथक्-पृथक् देखा जा सकता है। एतावता प्रकाश ही भेदज्ञान में सहायक है। सम्यक्त्व-सूर्योदय उसी प्रकाश का प्रदाता है। इस शुद्धचिन्मात्रमूर्ति आत्मा की परम विशुद्धि इस मेचित से पृथक् होने में है। यह पार्थक्य शाब्दिक नहीं, तात्त्विक होना चाहिए। शाब्दिक स्थितिपर्यन्त तो यह शुकपाठ है। जैसे कोई अमृतघट का मुख खोले बिना 'अहो ! यह अमृत है' —कहता रहे, उसका स्वाद-ग्रहण न करे, वैसे गाथाओं को कण्ठस्थ कर अपने को चिन्मात्र कहनेवाला अथवा सरागपरिणति का त्याग किये बिना 'अहं ब्रह्मास्मि' का तारस्वर में चीत्कार करनेवाला अनुभवरहित परम्परापाठी मात्र है। मन में भुक्ति और वाणी पर मुक्ति कहने से वक्ता परवंचन तो करता ही है, स्ववंचनकारी भी होता है; क्योंकि मुक्ति शब्दगम्य नहीं है। मोदक का माधुर्य जिह्वा-प्रतीति का विषय है, दृष्टि-प्रत्यय का आलम्बन नहीं। जिस परसमरसीभाव का स्वानुभव आचार्यों ने निरूपित किया है, वह शब्दों का

क्रीड़ा—कुतूहल नहीं, स्वात्मप्रत्यय का प्रत्यक्ष बोध है। वह आत्मप्रदेश—स्थित अशेष कर्मपर्याय श्लेषविरहावस्था है, यथायोग्य विमल गुणों के आविर्भाव की बेला है और अमृततुल्यतृप्तिप्रद परम—समरसता की उपलब्धि है—

“मोक्षः स्वात्मप्रदेशस्थितविविधविधेः कर्मपर्यायहानि—

मूलात्तत्कालचिताद् विमलतर गुणोद्भूतिरस्या यथावत् ।

स्याच्छुद्धात्मोपलब्धेः परमसमरसीभावपीयूषतृप्तिः,

शुक्लध्यानादिभावापरकरणतनोः संवरान्निर्जरायाः ।।”

—(अध्यात्मकमलमार्तण्ड, 1/5)

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित संवर—निर्जरात्मक, उत्तमक्षमादि दशलक्षणात्मक, परसमय—निषेधक, स्वसमयस्थितिस्थापक, द्वादशानुप्रेक्षाभावित, दिव्यध्वनिपरमावतार, स्याद्वादनयचक्र—चारुचमत्कृत होते हुए भी निश्चयनिष्ठ यह मोक्षधर्म ही आत्मा का स्वसमय है।

निष्कर्ष

आत्मा ही निश्चय नय से समय—पद वाच्य है। जीवादि पदार्थों को अविपरीत यथास्थित रूप आत्मा ही जानता है। जब यह आत्मा विभाव—परिग्रहों का त्याग कर स्वभाव—रत्न—सम्पदा से विभूषित होता है, तब इसका उपयोग स्वसमयात्मक होता है तथा जब यह लौकिकता की ओर परिणतवृत्ति होता है तब परसमयपर्यायी होता है—

“जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो तं हि ससमयं जाणे ।

पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं ।।” —(समयसार, 2)

यह जीव जब सम्यक् दर्शन—ज्ञान—चरित्र में स्थित होता है तब वही इसका स्वसमय है तथा यही जब पुद्गल पर्यायों में आसक्तिमान तथा कर्मबन्धन में अपने आपको निमग्न करे तब परसमय हो जाता है।

स्व—समय तथा पर—समय की यह विभाव—स्वभाव द्विधा विभक्त परिणति अनादिकाल से चली आ रही है। जीवों के ‘संसारिणो मुक्ताश्च’ कहकर जो दो भेद किये गये हैं वे इसी स्व—पर—समय के अवच्छेदक धर्म हैं। मुक्त जीव भी प्रथमावस्था में बन्धयुक्त अथवा संसारी होते हैं। अन्यथा उन्हें मुक्त नहीं कहा जा सकता। जो पक्षी पंजर—बद्ध है वह पंजर से निकलने पर निर्बन्ध अथवा मुक्त कहा जाता है। पिंजरे में न आये हुए पक्षी को, जो स्वतः मुक्त है, कोई मुक्त नहीं कहता। अस्तु।



स्व-पर घातक है ऐसा जानना

‘बहुरि श्लोकवार्तिक में ऐसै कहा है — जो एवंभूत नय तौ निश्चय है। जातैं जिसकी जो संज्ञा होय तिस ही क्रियारूप परिणमता पदार्थ होय सो याका विषय है। जैसे चैतन्य अपना चैतन्य भावरूप परिणमै ताकूं चैतन्य ही कहै। क्रोधी कूं क्रोधी ही कहै इत्यादि। बहुरि व्यवहार अशुद्ध द्रव्यार्थिक कूं कहा है। जातैं दोय भाव तथा द्रव्य मिले बिना व्यवहार चलै नाहीं। दोय मिलै तब अशुद्धता भई। सो यह निर्देशादिक अधिकार में लिखी ही है।

इहाँ प्रश्न, जो, निश्चय नय तौ सत्यार्थ है व्यवहार असत्यार्थ है—त्याजने योग्य है, सो यह उपदेश कैसे है? ताका उत्तर — जो, उपदेश दोय प्रकार प्रवर्तै है। तहाँ एक तौ आगम। तामैं तो निश्चय द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोऊ ही नय परमार्थ रूप सत्यार्थ कहे हैं। अर प्रयोजन अर निमित्त के वश तैं अन्य द्रव्य— गुण—पर्यायनि का अन्य द्रव्य—गुण—पर्यायनि विषै आरोपण करना, सो उपचार है। याकूं व्यवहार कहिये, असत्यार्थ भी कहिये, गौण भी कहिये। बहुरि दूसरा अध्यात्म उपदेश। तामैं अध्यात्म ग्रंथ का आशय यह है, जो आत्मा, अपना एक अभेद नित्य शुद्ध असाधारण चैतन्य मात्र शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय—भूत है। सो तौ उपादेय है।

बहुरि अवशेष भेद पर्याय अनित्य अशुद्ध तथा साधारण गुण तथा अन्य द्रव्य ए सर्व पर्यायनय के विषय ते सर्व होय हैं। काहे तैं? जातैं यह आत्मा अनादितैं कर्मबंध पर्याय मैं मग्न है। क्रमरूप ज्ञान तैं पर्यायनि कूं ही जाणै है। अनादि अनंत अपना द्रव्यत्व भाव का याकै अनुभव नाहीं। तातैं पर्याय मात्र मैं आपा जानै है। तातैं ताकूं द्रव्य दृष्टि करावने के अर्थ पर्यायदृष्टि कूं गौणकरि असत्यार्थ कहि करि एकांत पक्ष छुड़ावने के अर्थ झूठा कह्या है। ऐसा तो नाहीं, जो, ए पर्याय सर्वथा ही झूठे हैं, कुछ वस्तु नाहीं, आकाश के फूलवत् हैं। जो अध्यात्मशास्त्र का वचन कूं सर्वथा एकांत पकड़ि पर्यायनि कूं सर्वथा झूठा मानै तौ वेदान्ती तथा सांख्यमती की ज्यों मिथ्यादृष्टि ठहरै है। पहलैं तौ पर्यायबुद्धि एकांत मिथ्यात्व था। अब ताकूं सर्वथा छोड़ि द्रव्यनय का एकांत मिथ्या दृष्टि होगा, तब गृहीत मिथ्यात्व का सद्भाव आवैगा। बहुरि उपनय के भेदनिविषै सद्भूत असद्भूत उपचार कहै हैं। ते कथंचित् असत्य भी मानने। जातैं ऐसा

कह्या है, जो, प्रयोजन तथा निमित्त के वश तैं प्रवर्तै अन्य कूँ अन्य कहना तहाँ उपचार है सो परस्पर द्रव्यनि कैं निमित्त नैमित्तिक भाव है। सो तो सत्यार्थ है ही। तातैं संसार मोक्ष आदि तत्त्वनि की प्रवृत्ति है। जो निमित्त—नैमित्तिक भाव झूठा होय तौ संसार मोक्ष आकाश के फूल ज्यों ठहरै। बहुरि तैसे ही जहाँ पुरुष का प्रयोजन है ताकै अर्थि जो प्रवृत्ति है, सो भी कथंचित् सत्यार्थ है। जो प्रयोजन तथा प्रयोजन का विषय पदार्थ सर्वथा असत्यार्थ हो तो आकाश के फूल की ज्यों झूठा ठहरै। तथा एकेन्द्रियादिक जीव कूँ व्यवहार करि जीव कह्या है। सो व्यवहार सर्वथा झूठा ही होय तौ जीव हिंसादिक का कहना झूठा ठहरै। परमार्थ तैं जीव तौ नित्य है अमर है। एकेन्द्रियादिक जीव कहनां झूठ है झूठा के घात विषै काहे की हिंसा? तथा याका विस्तार कहां ताई कहिये? जे व्यवहार कूँ सर्वथा असत्यार्थ कहै हैं तैं तो सर्व व्यवहार के लोप करने वाले तीव्र मिथ्यात्व के उदय तैं गाढ़े मिथ्यादृष्टि हैं—जिनमत तैं प्रतिकूल हैं, तिनि की संगति ही स्व—पर की घातक है—ऐसा जाननां।’

—(सर्वार्थसिद्धि वचनिका, पं० जयचंद छाबड़ा, प्रथम अध्याय, पृ० 215-217)